37.3 अभ्यास के प्रश्न

1. 'लहरो के राजहंस' की रंगमयीयता पर निबंध लिखें ।
2. रंगमंचीयता की दृष्टि से लहरों के राजहंस की समीक्षा कीजिए ।

लहरों का राजहंस की समस्याएँ

पाठ-संरचना

38.0 उद्देश्य
38.1 परिचय
38.2 लहरों के राजहंस की समस्याएँ
38.3 अभ्यास के प्रश्न

38.0 उद्देश्य

लहरो का राजहंस मुट्ठी से रिश्ते क्षणों का नाटक हैं इसके मुख्य पात्र नन्द और सुंदरी क्षण की प्रतिकियाओं और चरम बिन्दुओं पर जीते है। जीवन के ताल में राजहंसों को सम जल प्रवाह की अपेक्षा होती हैं जिससे तैरने में अनागत की कोई आशंका न हो और प्रत्येक क्षण को समग्रता से पाया जा सके। विपरीत स्थितियों की छाया जब श्यामांग, नन्द, सिद्धार्थ और यशोधरा के माध्यम से सुंदरी के भोगों और प्राप्य पर पड़ने लगती है तब कामोत्सव में अभ्यागतों का न आना, गौतम बुद्ध का राजभवन के द्वार पर भिक्षाटन यशोधरा का भिक्षुणी बन जान, नन्द का बुद्ध के पास से विशेषक न सूखने तक लौट न आना ऐसी घटनाएँ है जिनमें क्षण विशेष सुंदरी की अस्मिता से फिसल जाता है। इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस की समस्याओं से पाठकों का परिचय कराना है।

38.1 परिचय

लहरों का राजहंस क्रिया व्यापार और चेतना के द्वन्द्व को लेकर चलता है। इसका आधार व्यक्ति का द्विधाग्रस्त होना है- दो तरह से सोचना ओर दोनो को एक साथ ठीक या गलत मानना। यह द्विधा आधुनिक साहित्य में मानवीय नियति के रूप में स्वीकार की गई है और अन्वेषण की दिशा में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। नाटककार की सफलता इस बात में है कि मानसिक द्वन्द्व केवल स्वीकार या अस्वीकार का संवाद -भर बनकर नहीं रह जाता। भावात्मक द्वन्द्व मानसिक उहापोह में नहीं, क्रिया में परिणत हो जाता है- मानसिक द्वंद्व स्वयं क्रिया-व्यापार बन जाता है और क्रिया-व्यापार स्वयं बाहर भी अपेक्षा अन्तः क्षेत्र की ओर मुड़ जाता है।

38.2 लहरों के राजहंस की समस्याएँ

गतिशील मानव-चेतना ने अनादि काल से ही हवाई मान्यताओं का तिरस्कार का ज्ञान, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये है। क्योंकि नव्यान्वेषण मानव का जन्मजता स्वभाव है। उसी के परिणामस्वरूप आज

मानवता के विकास के चरम शिखरों की ओर निरंतर अग्रसर हो रही है, नव्यान्वेषण एवं नव्य प्राणियों की दृष्टि से 16 वीं शती के अन्तिम चरण विशेष महत्व रखते है।। जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों के समान साहित्य, विशेषकर नाट्य-कला के परम्परागत शिल्प-क्षेत्र में भूतपूर्व परिवर्तन के चिन्ह परिलक्षित होने लगे। क्योंकि नाट्य-शिल्प के क्षेत्र में सर्व प्रथम तुमुल विद्रोही नाटक-प्रेमियों और रंगमंच के व्यवस्थापकों का घ्यान भी द्रुतगति से अपनी ओर आकर्षित कर लिया। नाटय-क्षेत्र एवं शिल्प का यह परिवर्तित स्वर था- समस्या-नाटकों का आरंभ।

इस नई शिल्प-विधा के प्रारम्भ के मूल में भी लगभग वही परिस्थितियां काम कर रही थी, जिन्होने धर्म, राजनीति, समाज नैतिकता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना और परम्परागत मूल्यों के विरूद्ध तुमुल स्वरों में विद्रोह का उद्घोष किया था। उसी चेतना का समर्थन करते हुए डा. एच. लारेन्स ने कहा- "Men and Women should think about sex freely, gompletely honestly and cffeanly." अर्थात सभी क्षेत्रों के समान उन्मुक्त काम-भावनाओं के चिन्तन एवं उन्मेष की परम्परा का साहित्य में आरंभ हुआ।

इसी प्रकार अर्थ के क्षेत्रों में भी पाश्चात्य चिन्तकों ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता का स्वर मुखरित किया। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी प्रभाव स्वरूप तुमुल संघर्ष छिड़ गया। क्योंकि अपने प्रत्येक विधात्मक स्वरूप में साहित्य परम्परागत एवं सामयिक चेतनाओं से ही उत्प्रेरित हुआ करता है, अतः नाट्य-शिल्प में भी अनिवार्यतः परिवर्तन का स्वर प्रतिघ्वनित होने लगा और जौन गाल्सवर्दी को कहना पड़ा - "The dramatist could not write plays detached form the movements and problems of this time." परिणामतः नव्यान्वेषी एवं नव्य मूल्यों की स्थापना के इच्छुक नाटककार विविध रूप से नए ढंग के नाटकों की सर्जना करने लगें। समस्या-नाटकों के आरंभ में यही परिस्थितियाँ एवं चेतनाएं मूल रूप से विद्यमान थी। इसी पृष्ठभूमि से अनुप्राणित साहित्यकार सामाजिक मूल्यों परिवर्तन की इच्छा से इस प्रकार के नाटक रचने लगे।

समस्या-नाटक : स्वरूप : सामान्य शब्दावली में यदि कहना चाहें तो समस्या-नाटक ऐसी नाटकीय सर्जना को कहा जाता है। जिसमें मानव-जीवन के प्रत्यक्ष संदर्भो से सम्बन्धित किसी समस्या का कलात्मक चित्रण किया गया हो। वह समस्या काम (Sex), प्रेम, विवाह, कानून, न्याय, समाजिक या आर्थिक किसी भी प्रकार का शोषण आदि से संबंधित किसी भी प्रकार की हो सकती है। उसके व्यापक परिवेश में चेतना का शोषण एवं द्वंद्व भी समा सकता है कि यह अलग प्रश्न है एल्वर्ट ग्वार्ड के अनुसार- "The problem play is presentation of a contemporary question through realistic technique." इस परिभाषा में यह स्पष्ट हो जाता है कि शिल्प विधान की दृष्टि से समस्या-नाटकों मे कलात्मकता का उतना महत्व नहीं, जितना कि यथार्थवादी ढंग से वस्तु-प्रतिपादन का। यद्यपि कलात्मकता उसमें रहती ही है। दूसरे, समस्या से अभिप्राय केवल मात्र सामयिक समस्या ही नहीं, बल्कि ज्वलन्त समस्या लिया जाता है। उसमें सामयिक चेतना का महत्व ही पूणतया प्रतिपादित रहता है। उसके चित्रण में परम्परागत मान्यताओं और आदर्शो के प्रति विद्रोह का स्वर बड़े प्रबल रूप से मुखरित किया जाता है। अतः समस्या का संबंध विशेष व्यक्ति से न होकर अधिकांश पीड़ित वर्गो से रहता है। चित्रण का उद्देश्य किसी अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि विचारों का परिवर्तन की नई दिशा प्रदान करना होता है, ताकि जीवन में स्वाभाविक निर्बाधता का समावेश हो सके। यह सारा चित्रण पक्ष-विपक्ष में सबल तर्क वितर्क के द्वारा प्रतिष्ठापित किया जाता है। उसमें व्यंग्य की भावना भी अन्तर्हित रहती है। इसी कारण 'निकल' नामक एक पाश्चात्य ने प्रसिद्ध पाश्चात्य समस्या-नाटककार बर्नार्ड शॉ के नाटकों को ' उद्देश्यपूर्ण परिहास' की संज्ञा प्रदान की थी। यह भी घ्यातव्य है कि ऐसे नाटकों में लेखक स्वयं तटस्थ रहकर भी समूचे नाटकीय कार्य-व्यापार में एक न एक निश्चित लक्ष्य अवश्य लिये रहता है।

तर्क-वितर्क ऐसे नाटकों का अनिवार्य तत्व है। बर्नार्ड शॉ के अनुसार 'वह नाटक, जिसमें कोई तर्क नहीं, कोई समस्या नहीं, गम्भीर नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इतना ही नहीं, शॉ के अनुसार - 'उसी नाटक की वस्तु-प्रकृति मनोरंजक हो सकती हैं, जिसमें व्यक्तिगत चरित्र की महत्वपूर्ण समस्या को उठाया जाए और उस पर सुझावपूर्ण तर्क-वितर्क किया जाये।' इस विवेचना से समस्या नाटकों के स्वरूप, परिभाषा और मुख्य तत्वों के संबंध में प्रायः पता चल जाता है। संक्षेप में हम कह सकते है कि समस्या नाटक ऐसी रचना को कहा जाता हैं, जो जीवन की सामयिक समस्यात्मक चेतनाओं को सबल तार्किक दृष्टि प्रस्तुत करे। समस्या के सभी पहलुओं को स्पष्टतः उद्घाटित एवं उद्घोषित करे और व्यक्ति या समष्टि की परंपरागत चेतना को झंझोर कर जागृत कर उसे नई गति-दिशा अपनाने के लिये बाधित कर दें ।

उद्भव के कारण :- समस्या नाटको का आरंभ संसार में यथार्थवादी आन्दोलन के प्रभाव से उसके साथ-साथ ही हुआ। वास्तव में इसके आरंभ के मूल में परिस्थितिजन्य विषमता विवशता ही है। परम्पराओं और थोथी मान्यताओं का बैविध्य जन-चेतना को बुरी तरह कुचलने और दामित करने का प्रयास कर रहा था। अनेक प्रकार के बंधन और व्यवधान नैतिकता की रक्षा के नाम पर वस्तव में वैयक्तिक नैतिकताओं के मूल्यों को कुण्ठित कर रहे थे। मानव की स्वच्छन्द और परिवर्तनशील चेतना 'कुछ नया' पाने और करने के लिये, किसी नये मार्ग पर चलने के लिये भीतर ही भीतर कुसमुसा रही थी। वायु-मंडल में नमी और घुटन बढ़ जाने से प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस प्रकार आंधी, तूफान और वर्षा का आगमन अनिवार्य हो जाता है, उसी प्रकार मानव-चेतना गत घुटन का परिणाम भी परिवर्तन और विद्रोही ही हुआ करता है फिर चाहे वह विवशता से ही क्यों न हो। अतः हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में समस्या-नाटकों के प्रवर्तक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के शब्दों में:

'समस्या-नाटको की रचना विवशता की देन है, उसी प्रकार जैसे प्रेम दुनिया का रूप बदलने के लिये रचना नहीं होती, बल्कि सामाजिक जीवन जिन कठिनाईयों और खड्डों से पार हो रहा है, उन्ही में से एक या दो का रूप साहित्यकार खड़ा कर देता है। अतः निश्चित रूप से समस्या-नाटको के मूल में मानव की प्रपीड़ित और संश्लस्थित आत्मा का सामयिक चीत्कार ही ग्रथित रहता हैं। घुटने के बाद होने वाले श्वासों के आरोहावरोह का मूर्तकरण रूप-विधान की साधना ही रहती है।

मान्यताएँ :- समस्या-नाटककारों के अनुसार प्रेम भी एक स्वाभाविक शारीरिक क्षुधा-मात्र ही है और उसका स्वाभाविक प्रशमन भी अनिवार्य है, नही तो विकृतियों की संभावनाएं बनी रहेगीं। परम्परागत मान्यताओं के अनुसार इनकी दृष्टि में विवाह एक पवित्र एंव अविच्छिन्न बन्धन नहीं, बल्कि एक सामाजिक समझौता मात्र है। अन्य अनेक समझौतों के अनुसार इसक भी अविच्छिन्न किया जा सकता है। यह दाम्पत्य जीवन को भी कोई स्वाभाविक या आवश्यक प्रक्रिया नहीं मानते। अतः उसके बंधन भो अकाट्य नहीं स्वीकारे जा सकते। यदि वैवाहिक समझौते, मूल में 'प्रेम' का अविच्छिन्न बंधन नहीं, तो वह एक तथाकथित वैधानिक वैश्य-वृति से अधिक महत्व नहीं रखता, बल्कि किन्हीं सीमाओं और स्थितियों में उससे भी कहीं गर्हित हो जाता है। क्योंकि वेश्या-वृति विवशता का परिणाम होते हुए भी इच्छा समन्वित रहीं है, जब कि विवाह को एक पवित्र, धार्मिक एंव अकाटय नियम मान लिया जाता हैं। उसमें फिर इच्छा का महत्व नहीं रह जाता। यदि कोई समाज या धर्म प्रेम-हीन विवाहों को भी नैतिक मानता है, तो वह परोक्ष रूप से अनैतिकता को ही प्रश्रय देता हैं। भारतीय संस्कृति के गायक प्रसाद ने भी अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नामक नाटक में अपने कल्पित पाख पुरोहित के भुख से विवाह के संबंध में कहलंवाया है।

'स्त्री और पुरूष का परस्पर विश्वास पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है, यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।'

ठीक इसी प्रकार की मान्यता समस्या नाटककारों की हैं। (इस दृष्टि से हम प्रसाद को ही हिन्दी में समस्या नाटकों का प्रवर्तक मान सकते है) भ्रष्ट कानून, न्याय, न्यायालय और न्याय-व्यवस्था, पूंजी-पतियों की शोषक मनोवृतियां और चाले आदि सभी के चित्रण ऐसे नाटकों की परिधियों में भी आ जाते है। इन नाटककारों ने 'देश-भक्ति को रक्त के प्यासों का पागलपन तथा विश्वशान्ति के लिए घातक' माना है। क्योंकि ये लोग किसी भी स्थिति में मानवता के विभाजन के पक्षपाती नहीं।

सभी सामजिक, नैतिक या अन्य प्रकार की बुराईयों की जड़ उन्होने समाज की व्यवस्था और अवस्था ही माना है। अत: आये दिन होने वाले संघर्षो को ये लोग भाग्य या ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं मानते बल्कि उसे नवीन ओर प्राचीन मूल्यों के अनिवार्य संघर्ष का परिणाम मानते है। मानव और समाज का संघर्ष इनकी दृष्टियों में उतना ही अनिवार्य है, जितना सांस लेना या खाना। क्योंकि इब्सन के अनुसार - " Evil is produced by circumstances and not by coaractor" अर्थात् सभी बुराईयों की जड़ व्यक्ति नहीं बल्कि सामाजिक विषम परिस्थितियां है। अत: इनके साथ संघर्ष अनिवार्य ही है। इसी कारण इन नाटको में पूर्वाग्रहों से मुक्ति की छटपटाहट, पुरानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, सत्य, विवेकशील विनिमार्ण के प्रति उत्साह, स्पष्टत: दिखाई देता हैं। विषय सीमा में सेक्स ही नहीं, बल्कि औद्योगिक अशान्तियों, अन्धविश्वासों, श्रम-जीवियों के असंतोष, हड़ताल, गरीबी के प्रति आक्रोश आदि के मुखर स्वर भी आ जाते है।

आक्षेप :- बर्नार्ड शॉ जैसे समर्थ नाटककारों ने सामाजिक-आर्थिक पहलूओं को भी सशक्त स्वर प्रदान किया है। पर इनका कार्य उपरोक्त ढंग की समस्याओं को उभारना ही है, कोई समाधान प्रस्तुत करना नहीं। इस संबंध में इब्सन ने स्पष्ट संकेत दिया है- 'उसका काम प्रश्न उठाना है, उतर देना नहीं।' इसी प्रकार श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने भी अपने मन्तव्य में लगभग इन्ही शब्दों को दुहराते हुए कहा है- '.... समस्या उठाना ही उसका काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं। जो अभाव या जो परेशानी उसे भीतर होती है, उसका चित्र भी वह खेंचता है, पर अपने से स्वतन्त्र होकर मेरे नाटकों में यही दृष्टिकोण प्रमुख है।' क्योंकि एक तो समस्या-नाटककार स्वयं तटस्थ रहता है, दूसरे वह समस्या का कोई समाधान भी प्रस्तुत नहीं करता, इसी कारण आरंभ में (बल्कि आज भी) इस नाट्य-विचार को अनेक प्रकार के आक्षेपों का सामना करना पड़ा- "The problem play is not a play at all] but a homily in dialogue, a pamphlet or sociological treaties" इतना ही नहीं, उसे मात्र प्रचारक, मात्र संवाद श्रृंखला तक भी कहा गया, क्योंकि वह जीवन का कोई प्रत्यक्ष समाधान प्रस्तुत नहीं करता, कोई दिशा निर्देश वा मार्ग दर्शन नहीं करता।

विषय विधान या वस्तु चित्रण की दृष्टि से भी ऐसे नाटकों को अस्थायी, सीमित, क्षणिक आदि नामों से विभूषित किया गया। पात्रों को निराशावादी या जड़ और तर्क-वितर्क से भरे लम्बे सम्वादो का थका देने वाला कहा गया कि संवाद - "A series of conversations terminated by an accident." और "The dream of disillu fim" जैसे नाम दिये गये। पर इन समस्त बाधाओं को अचूर करते हुए यह नवीन नाट्य-विधा प्रगति-पथ पर अविरल गतिशील है।

शिल्प-विधान एवं तत्व :- शिल्प-विधान को तात्विक दृष्टि से, ऐसे नाटकों में सर्वथा समर्थ और विश्वसनीय कथानक की सर्जना की जाती है। उसका आधार सम्भावयता नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष जीवन रहता है।

संकलनत्रय को यद्यपि अनिवार्य नहीं माना जाता, फिर भी व्यवहार में इनका पालन हो ही जाता हैं मूल बल कथ्य अन्विति पर ही दिया जाता है। 'कार्यानिर्वति' ही वस्तु-शिल्प का प्रधान अंग होती है। प्रमुख समस्या नाटक के अन्त में बड़े बेग से उभर कर एकाएक सामने आ जाती है। पर अन्त त्रासदी या कामदी के परम्परागत रूप में नहीं दिखाया जाता बल्कि चरम सीमा पर पहुँच कर जिज्ञासा बनी रहती हैं। समस्या का समाधान या उतर प्रस्तुत करना नाटककार अपना कर्तव्य नहीं मानता! मूल विषय या कथ्य के विकास के लिए विरोध समानान्तर स्थितियों का प्रयोग किया जाता है। इस चित्रण में किसी भी प्रकार की रहस्यमयता नहीं रहती, बल्कि दैनिक जीवन की छोटी-मोटी घटनाएँ ही चित्रित की जाती है, विरोधी परिस्थितियों, प्रवृत्तियों रूचियों और आयु वाले लोगों का चित्रण भी समानान्तर ही होता है, पात्रों की मनोवृत्तियों का चित्रण करने के लिये शब्दों का ही नहीं, विविध प्रकार की भाव-भंगिमाओं का सहारा एवं भाव द्योतक चिन्हों (.....?--?) डॉट्स, प्रश्न वाचक - चिन्ह और विस्मय बोधक डैश आदि का प्रयोग किया जाता है। मनोविज्ञान एवं अर्न्तद्वंद्व का चित्रण अनेक प्रकार के सम्वादों और स्थितियों के माध्यम से किया जाता है। स्वगत-भाषणों, गीतों और काव्यमयता को ऐसे नाटकों में अस्वाभाविक अत: वर्ज्य माना जाता है सुखान्त हो या दुखान्त कैसा भी आवेगमय क्षण क्यों न हो, गद्य के माध्यम से ही उसे अभिव्यक्ति दी जाती है।

सम्वादो में लघुता और सरलता का ध्यान तों प्राय: रखा ही जाता है, पर कहीं-कहीं उनमें दीर्घता भी आ जाती है। वह मन: विश्लेषण की दृष्टि से स्वाभाविक ही कही जाएगी। प्राय: सरल और बोलचाल की भाषा का प्रयोग ही उचित माना जाता है, फिर भी गम्यत्व जैसे दोष से बचे रहने की चेष्टा तो रहती ही है। पात्र बड़े ही सजीव एवं सतर्क होते है। पात्र कुण्ठाग्रस्त तो हो सकते है, पर उनमें शिथिलता नहीं आने दी जाती । नायक या खल नायक परम्परागत नहीं, बल्कि खल-नायक तो ऐसे नाटको में प्राय: होते ही नहीं है। इस अभाव की पूर्ति परस्पर विरोधी स्वभाव एवं मनोवृत्तियों वाले पात्रों के माध्यम से की जाती हैं। गौण पात्रों का प्रयोग विभिन्न प्रकार की विभिन्न वर्गो की स्थितियों से भी साक्षात्कार हो जाता है, सबसे बड़ी बात तो यह है कि पात्र-शुन्य में विहार करने वाले मात्र वायवी और आरोपित नहीं होते, बल्कि सजीव, स्वतंत्र और अपने वर्गीय व्यक्तित्व से अभिन्न होते है। प्राय: मध्य वर्गीय पात्रों को ही महत्व दिया जाता है। हाँ, उनके चयन में वैविध्य का ध्यान आवश्य रखा जाता हैं तात्पर्य यह है कि शिल्प विधान में रूढ़िवादिता या परम्परागत आस्थाओं को कोई महत्व नहीं दिया जाता। अत: जोलॉ का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि - "Drama will either die or become modern and ralistc." इस कथन के अनुरूप 'समस्या नाटक' के रूप में नाटक अब मात्र नाटक ही नहीं रह गया, बल्कि यथार्थ के चित्रण के द्वारा उसका अधिक नवीकरण हो गया है।

समस्या-नाटक और 'लहरों के राजहंस' :- आधुनिक हिन्दी नाटकों का समग्र परिवेश समस्या-नाटक की उपरोक्त मान्यताओं एवं शिल्पगत वैशिष्ट्यों से न केवल प्रभावित ही हो रहा है, बल्कि अपनी सृजनात्मक प्रकिया में उपरोक्त साँचे में ही ढलता जा रहा है। लेकिन यह हर्ष का विषय है कि इधर हमारे नाटककारों ने समस्या-नाटकों के बाह्य एवं शिल्पगत स्वरूप को समग्रत: अपना कर उसकी भारतीय आत्मा को नहीं मरने दिया। आत्मा एवं सांस्कृतिक चेतना इसकी अपनी ही है। इससे भी बढ़कर आज की शिल्प-विधा में काव्य-तत्वों एंव साहित्यिक महत्वों की भी पुनसृष्टि होने लगी है। एक ओर उसमें प्रसाद की कला के दर्शन होते है। दूसरी ओर इब्सन और बर्नार्ड शॉं के शिल्प-विधान के मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' में भारतीय एवं पाश्चात्य समन्वित तत्वों का सुंदर रूप देखा जा सकता है। इसी कारण इस नाटक को एक ही दृष्टि में समस्या-नाटक कह पाना प्राय: कठिन हा जाता है। फिर भी, क्योंकि हसमें आज की और युग-युगों की समस्त मानवता की चेतना के द्वंद्व की समस्या उठाई गई है,

अत: इसे हम समस्या नाटक कह सकते है। आज समग्र विश्व के सामने चेतना के द्वंद्व का प्रश्न उग्र रूप से उपस्थित है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद उसी की देन है। और यह भौतिक द्वंद्वों से ग्रसित चेतना मानव को किधर ले जा रही है- यह प्रश्न उग्र रूप से उपस्थित है। क्या इससे मानव-हित-साधन कर सकता है? यदि नही तो फिर कौन सा वह मार्ग है, जो मानव-हित-साधन कर सकता है? इस प्रश्न के संबंध में नाटककार मौन है-- यह भी इस नाटक को समस्या-नाटक ही प्रमाणित करता है। फिर भी 'लहरों के राजहंस' इससे एक कदम आगे बढता हुआ दिखाई देता है। वह यह कि यहाँ अनिच्छित एवं परोक्ष रूप से ही सही, नन्द को अध्यात्मवाद की ओर केवल आकर्षित ही नहीं दिखाया गया, बल्कि उस पर चलने के लिये प्राय: बाध्य भी कर दिया गया है। क्या यह एक अलंक्षित संकेत नहीं है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कठिनाईयों एवं दुविधाओं से छुटकारा पाने का एक मार्ग वह भी है, हजस पर नंद को चलना पड़ा? आज संसार के कोने कोने से भी तो अनेक नव्य मान्यताओं के रूप में कुछ इसी प्रकार की आवाज उठती सुनी जा सकती है। इसी कारण हमने इस नाटक की आत्मा भारतीय कही है और इसमें प्रसाद तथा बर्नार्ड शॉ का समन्वित रूप देखने का प्रयत्न किया है।

उपर हमने कहा है कि नाटककार ने नंद के जीवन की अनिच्छित एवं अलक्षित परिणति के संदर्भ में अध्यात्मवाद या निवृति-मार्ग का सांकेतिक समर्थन किया है, उससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह चेतना के द्वंद्वों से छुटकारा पाने के लिये संन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा देना चाहता है। हमारा मन्तव्य केवल इतनाा ही है कि अत्यधिक भौतिक आसक्तियों से विमुख होकर जीवन को सामान्य आसक्तिसयों- प्रवृतियों और निवृतियो के सहज मार्ग पर ही चलने दिया जाय, जैसा कि प्रत्येक पूर्ववर्ती युग में चलता रहा है। क्यों कि संतोष एवं शान्तिपूर्वक जीने के लिये और सबसे बड़ी बात तो यह है कि व्यर्थ के द्वंद्वों के छुटकारो के लिये समन्वित मध्य-मार्ग ही श्रेयस्कर हो सकता है। जिसका समर्थन कबीर एवं नानक जैसे सन्तों ने भी किया। एक वाक्य में वह मार्ग हो सकता है- 'पानी में चलो, किन्तु अंचल को भीगने और डूबने से बचाते है।

शिल्प-विधान की दृष्टि से लहरों के राजहंस' की वस्तु-योजना समर्थ, विश्वसनीय एंव सृजनात्मक हैं उसका आधार मात्र सम्भाव्यता नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष जीवन और व्यवहार-जगत का सत्य है। प्रत्यक्ष जीवन की अनुभुतियों को ही यहाँ नाटकीयता के पर्यावरण से संवलित किया गया है। एक ही दृश्यबन्ध पर तीन अंकों या संचरणों का विभाजन भी समस्या-नाटकों के अनुरूप ही है। शिल्प-विधान की दृष्टि से स्थान, समय और कार्य (संकलनत्रय) का भी समग्रत: ध्यान रखा गया है। नाटककार ने एक ही सुंदरी के कक्ष में समूचे कथानक की अन्विति दिखाई हैं समग्र कथानक को दो रातो के काल-परिवेश में सीमित कर दिया गया है और यह सीमांकन इतने स्वाभाविक रूप से हुआ है कि तनिक भी शिथिलता या कमी नहीं खटकती। एक ही कार्य की अन्तिम अन्विति विशेष महत्वपूर्ण है। स्थान और समय की अन्विति का ध्यान रखते हुए भी नाटक़कार का प्रत्यक्ष बल 'कार्यान्विति' पर ही हैं। समस्या-नाटकों में 'कार्यान्विति' ही शिल्प का प्रधान अंग होती है। यहां भी यही हुआ है।

समस्या नाटकों में प्रमुख समस्या अन्तिम संचरणों में ही पूर्ण बेग से उभर कर सामने आया करती है। यहाँ भी नन्द के द्वंद्व के ग्रस्त मन द्वारा 'निर्णय की यातना, अंत में ही अत्यधिक उत्कट रूप से उभर कर आई है। वह दीक्षित होकर भी वापिस लौट आता है- अर्थात दीक्षित होकर भी दीक्षित नहीं हो पाता तभी तो वह कहता है - 'उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया?..... कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है। कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगें...? अन्तर पड़ता यदि मेरा हदय बदल जाता, ऑखे बदल जाती। '

किन्तु तब यह निर्णय का द्वंद्व और भी अधिक प्रखरतम रूप से उभरता है कि जब नन्द सुंदरी के मुख से यह सुनता है..... 'वे नहीं आये, अलका जो लौटकर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है...।' तो उसकी समग्र चेतना को एक तब झटका लगता है- 'कोई दूसरा ही। ..... तो क्या मैं कोई दूसरा ही हूँ?' और तब नंद अपने-आप को चोराहे पर खड़े नंगे व्यक्ति के समान पाता है, जिसे सभी दिशाएँ। लील लेना चाहती हैं यही परम्परागत दृष्टि से यदि नाटककार चाहता तो एक निश्चित अन्त दिखा सकता था। व हनंद को, जैसा कि इतिहास भी बताता है स्वेच्छया बुद्ध मत की ओर मोड़ सकता था। किन्तु नहीं, उसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि समस्या-नाटकों में समस्या एवं तत्संबंधी द्वन्द्व तो उग्र रूप से उभर कर आता है, पर अन्त परम्परागत 'त्रासदी' या 'कामदी' नहीं दिखाया जाता है, पर अन्त में चरम सीमा पर पहुंचकर भी वहाँ एक जिज्ञासा का भाव बना रहता है। सो यहां भी वह प्रबल जिज्ञासा विद्यमान है। क्योंकि सुंदरी के कथन से आहत होकर नन्द दीक्षा से पुन: संसार में लौटकर भी नहीं लौट पाता। वह वापिस चला जाता है और वह भी इसलिये कि श्वेतांग के शब्दों में- 'वे अपने केशों की खोज में जा रहे है। जाकर तथागत से पूछना चाहते है कि उन्होने उनके केशों का क्या किया?और यदि कुछ नहीं किया। तो उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते हैं?' और स्वयं नंद भी तो यही कहता है कि - 'अस्तित्व ओर अनास्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिन्ह..... केवल एक प्रश्न-चिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है। क्योंकि .... पहले इसी प्रश्न का उतर मुझे उनसे जानना है.... आज ही और अभी।' पर वे प्रश्न क्या है? उनके उतर क्या है? उसके बाद नंद का क्या हुआ- आदि अनेक जिज्ञासाएँ बनी रहती है स्पष्ट है कि अन्त परम्परागत न होकर समस्या नाटकीय ही है। ऐसे नाटकों में समस्या या प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करना नाटककार अपना उतरदायित्व स्वीकारता भी तो नहीं।

नाटक के मूल कथ्य एवं विषय के विकास के लिये नाटककार ने परस्पर विरोधी समानान्तर परिस्थितियों का 'लहरो के राजहंस' में अनेकश: निर्माण किया है। फिर इस संसृति या निर्मित में किसी भी प्रकार की रहस्यमयता भी तो नहीं है। उदाहरण स्वरूप पहले अंक में कामोत्सव का आयोजन और देवी यशोधरा के प्राब्रज्या ग्रहण की चर्चा विरोधी एवं समानान्तर स्थिति ही है। दूसरे अंक में एक ओर नंद के सुंदरी का प्रसाधन-श्रृंगार में व्यस्त होना और दूसरी ओर से बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के स्वर एवं गौतम बु) का द्वार पर आकर लौट जाना आदि स्थितियाँ भी इसी प्रकार की है। इनकी अन्विति पहले अंक में आर्य मैत्रेय जैसे लोगों के कामोत्सव के लिये आकर भी लौट जाने और दूसरे अंक में दर्पण के गिर कर टूट जाने के रूप में होती है। नंद का क्षमा याचना के लिये प्रस्थान भी इसी प्रकार की स्थितियों की एक अन्विति है। तीसरे अंक में कमलताल के राजहंसों का उड़ जाना, उधर नंद के केश काटे जाने आदि की घटनाएँ भी सामानान्तर पर परस्पर विरोधी स्थितियों का उन्नयन ही है। श्यामांग का तो समूचा प्रसंग ही इसी प्रकार का हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटककार ले 'लहरों के राजहंस' में समस्या नाटकों के समान ही, इस प्रकार छोटी-मोटी किन्तु महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण किया है। इनमें स्वभाव, आयु आदि के विरोध भी विद्यमान है। जैसे नंद एक ओर तो केश कटवाता है और वह भी चुपचाप और दूसरी ओर जंगल में जाकर व्याघ्र से भिड़ जाता है। कामोत्सव के अवसर पर नंद द्वारा मृतक मृग की चर्चा भी यही हैं ये समस्त स्थितियां इसे समस्या-नाटक ही प्रमाणित करती है।

'लहरों के राजहंस' नाटक में नाटककार ने पात्रों की मनोवृत्तियों एवं मनोद्वंद्व के उद्घाटन के लिये उपयुक्त शब्दों का ही नहीं, विचित्र प्रकार की भाव-भंगिमाओं का चित्रण किया है। अनेक प्रकार के भाव-द्योतक चिन्हों का प्रयोग, जैसे प्रश्न-वाचक चिन्ह, विस्मयादि-बोधक चिन्ह और डॉट्स आदि। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्तद्वंद्व का चित्रण करने के विशेष प्रकार की स्थितियों और सम्वादों की योजना भी यहां सबल रूप में की गई है। उधर श्यामांग स्वयं बड़बड़ा रहा है और इधर नंद अनिश्चय की स्थिति में उनींदा घूम रहा है। उधर सुंदरी कामोत्सव की योजना में उन्मत्ता

घूम रही है और उधर हंसो का कलख तथा पंख फड़फड़ाने की आवाज आ रही है, एक ओर हंसों और कमलताल के जल की लहरों पर श्यामांग की छाया का दर्शन हो रहा है और पत्थर मारकर उस छाया को खदेड़ देना चाहता है, जबकि उधर सुंदरी उसके इस कार्य के लिये दण्ड-योजना कर रही है- यहाँ प्रयुक्त सम्वाद और ये स्थितियां मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्तर्द्वन्द्व का ही उद्घाटन करने वाली है।

स्वागत-भाषण एंव गीतों का प्रयोग नाटककार ने (गीत तो बिल्कुल ही नहीं) प्राय: नहीं किया। केवल मात्र गद्य का ही प्रयोग किया है। पर घ्यातव्य यह है कि गद्य में काव्यमयता अवश्य है। भावावेश के कारण काव्य का आ जाना किसी प्रकार अस्वाभाविक नहीं माना जाना चाहिए। इसी प्रकार भावावेश के क्षणों में व्यक्ति अत्यधिक अन्तर्मुखी हो जाया करता है। उस स्थिति में उसके सम्वाद 'आत्म-सम्भाषण' (मनोलॉग) या 'स्वगत-कथन' से प्रतीत होने लगते है। उन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति ऐस क्षणों में 'लहरो के राजहंस' में भी हुई है। सामान्यत: यह समस्या नाटकों के विरूद्ध है, किन्तु वहां अस्वाभाविकता नहीं है। अत: यह दोष भी नही। ये सामान्यत: नाटक के सम्भाषण या सम्वाद लघु एवं सरल है, किन्तु कहीं-कहीं, विशेषत: अन्तिम पृष्ठों में मन:स्थितियों के विश्लेषण की दृष्टि से उनमें दीर्घता का समावेश भी हो गया है। यह दीर्घता सभी लेखकों के सभी प्रकार के समस्या-नाटकों में देखी जा सकती है। ऐसा होना स्वाभाविक ही माना जाता है। यो नाटककार ने यहां सरल एवं बोल-चाल की भाषा का ही प्रयोग किया है, फिर भी ऐतीहासिक परिवेश के कारण कुछ विशेष तकनीकी शब्द भी आ गये है, जो स्वाभाविक ही कहे जाएँगे। हॉ, ग्राम्यत्व दोष कहीं नहीं।

समस्या-नाटकों के पात्रों के समान ही 'लहरो के राजहंस' के कुछ पात्र कुण्ठाग्रस्त तो अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें शिथिलता बिल्कुल नहीं है। समस्त पात्र अपनी स्थिति और कथ्य की आवश्यकता के अनुरूप सजीव तथा सतर्क है। खलनायक है ही नहीं। इस अभाव की पूर्ति उस चेतना के माध्यम से की गई है कि जो नन्द के स्वभाव एवं मनोवृतियों के विपरीत उस युग की समूची चेतना को ग्रस्त कर रही है। नाटक के गौण पात्र भी अपनी-अपनी स्थिति में पूर्णतया घिर बैठे है। वे युगीन स्थितियों के अनुकूल है? सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'लहरो के राजहंस' नाटक का कोई भी पात्र वायवी या शून्य में बिहार करने वाला नहीं, इसी कारण वह कल्पित या आरोपित भी प्रतीत नहीं होता। सभी पात्र अपने वर्गीय घ्यक्तित्व, कथ्य एवं स्थितियों से अभिन्न है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'लहरो के राजहंस' नाटक अपने शिल्पगत स्वरूप में रूढ़िवादिता एवं परम्परागत आस्थाओं से सर्वथा भिन्न है। उसमें समस्या-नाटकों की समस्त आस्थाएँ एवं विशेषताएँ विद्यमान है। उनका 'क्षण-बोध' और 'क्षण-बोध' का बन्धन अत्यन्त तीव्र एंव कलात्मक है। इसमें मूल ऐतिहासिक होते हुए भी सभी कुछ आधुनिक एवं यथार्थ है। इतना ही नहीं नाटककार मोहन राकेश ने श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र की इस मान्यता को भी निभाया है कि - 'नाटक में एक तो हमें स्वाभाविक चित्रण और सामाजिक समस्याओं का यथार्थ रूप प्रस्तुत करना चाहिए, और दूसरी ओर हमें अपनी संस्कृति परम्पर तथा मान्यताओं का भी घ्यान रखना चाहियए।' मोहन राकेश ने इस बात का घ्यान रखा है, तभी तो इस नाटक के शिल्पगत दृष्टि से समस्या-नाटक होने पर भी इसमें काव्य-तत्व एवं साहित्यकता की पून: प्रतिष्ठा हो सकी है। इस प्रकार की प्रतिष्ठा की हम नाटककार समस्या-नाटक से भी एक कदम आगे बढ़ने का साहसिक प्रयास कह सकते है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि सामान्यतया समस्या-नाटक की कसौटी पर 'लहरो के राजहंस' नाटक खरा उतरा है। प्रश्न के आरंभ में समस्या-नाटक की जिस पृष्ठभूमि और उनके कलात्मक तत्वों का उल्लेख किया गया

है, वे सब इस पर पूर्णतया घटित होते है। उससे भी आगे यदि इसमें कोई अन्य नवीतना है तो वह है- इसकी काव्यमयता और साहित्यिक तत्वों की पुनर्प्रतिष्ठा।

38.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस की समस्याएँ स्पष्ट कीजिए।
2. समस्या नाटक की दृष्टि से लहरों के राजहंस की व्याख्या कीजिए।

लहरों का राजहंस - दर्शन

पाठ-संरचना

39.0 उद्देश्य
39.1 परिचय
39.2 लहरों के राजहंस का दर्शन
39.3 अभ्यास के प्रश्न

39.0 उद्देश्य

लहरों के राजहंस में मोहन राकेश ने मनोविज्ञान विशेषत: मनोविश्लेषण और दर्शनशास्त्र विशेषत: अस्तित्ववाद की अनेक धारणाओं का बहुविध, व्यापक, सूक्ष्म और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। नाट्य विडम्बना की दृष्टि से यह नाटक विशेष उल्लेखनीय है। इस इकाई का उद्देश्य 'लहरो के राजहंस' के दर्शन से पाठकों को परिचय कराना है।

39.1 परिचय

लहरो के राजहंस नाटक भोग-अभोग या पार्थिव-अपार्थिव के संघर्ष का नाटक है। यह संघर्ष यहाँ सुंदरी और गौतम बुद्ध की विपरीत जीवन-दृष्टियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। जिस प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन ' में कालिदास और विलोम के बीच जय-पराजय की कसौटी मल्लिका है। उसी प्रकार 'लहरो के राजहंस' में सुंदरी और गौतम बुद्ध के बीच हो रहे संघर्ष में जय-पराजय का प्रमाण वे दोनो स्वयं नहीं हैं, यहाँ कसौटी नंद है। इसलिए इस नाटक का मूल द्वंद्व सुंदरी, नंद और गौतम बुद्ध के तीन कोणों में उलझा हुआ है। यह अद्‌भूत नाटकीय विडम्बना है कि ये तीनों व्यक्ति अलग-अलग जीतकर भी हार जाते हैं।

'लहरो के राजहंस' के सम्वादों में नाटय विडम्बना भरी पड़ी है जो नाटक में आगे आनेवाली घटनाओं की ओर और भी रोचक और प्रभावपूर्ण बनाकर उसकी नाटकीयता में वृद्धि करती है। कुछ नाटककारों में बीज बोने की क्षमता होती है। अपने लेखन से वे ऐसे वातावरण का सृजन करते हैं, जिससे दूसरों में प्रतिक्रिया होती है और लिखने की प्रेरणा जनमती है।

39.2 ' लहरों के राजहंस' का दर्शन

'लहरो के राजहंस' का मूल प्रयोजन व्यक्ति के मन के द्वंद्व-भाव को व्यंजित करना है। द्वंद्व की यह अभिव्यंजना न्यूनाधिक रूप के इसी प्रकार के दर्शनों एवं जीवन-दर्शनों में रहती ही है। क्योंकि किसी भी प्रकार का

सिद्धांत द्वंद्व की गहन घाटियों में से गुजरने के बाद ही विनिर्मित होता है, स्वरूप एवं आकार ग्रहण करता है। इसी कारण आज किसी भी प्रकार की सर्जना के दर्शन एवं जीवन-दर्शन के पक्षों, को खोजने की परम्परा विद्यमान है। यहाँ यह बात घ्यातव्य है कि दर्शन एवं जीवन-दर्शन में मूलत: अंतर होता है। दर्शन तो परम्परागत पार-लौकिक भावनाओं से संबंध निर्धारित एवं विकसित भाव-सिद्धांतो को कहा जाता है जबकि जीवन-दर्शन का संबंध किसी सर्जक की सामयिक चेतनाओं के साथ ही प्रमुखत: हुआ करता है। अपने युग-परिवेश में उसकी जो धारणाएँ एवं मान्यताएं विनिर्मित हुआ करती है, वहीं जीवन दर्शन कहलाती है। यों यह भी सर्व-विदित तथ्य है कि उसके मूल में परम्परागत दार्शनिक भावनाएं भी रहती है, यह अलग बात है, कि जीवन-दर्शन किसी विशिष्ट परम्परागत दर्शन की प्रतिक्रिया परिणति हो क्योंकि जीवन-दर्शन की विनिर्मित दर्शन की प्रतिक्रिया ही हुआ करती है। किसी दर्शन के प्रति स्वीकृति या अस्वीकृति ही हुआ करती है। इसी तथ्य के संदर्भ में 'लहरो के राजहंस' के दर्शन और जीवन-दर्शन पर विचार किया जाना चाहिए।

आरम्भ में उपर कहा जा चुका है कि 'लहरो के राजहंस' का मूल प्रयोजन व्यक्ति के मन के द्वंद्व के भाव को व्यंजित करना ही है। पर दर्शन का प्रश्न तब उठता है कि जब हम देखते है कि नाटक के मुख्य पात्रों नंद और सुंदरी का द्वंद्व दो प्रकार के दर्शनों के प्रति आकर्षण एवं वितृष्णा का द्वंद्व है। आसक्ति अनासक्ति का द्वंद्व है। क्योकि गौतम बुद्ध जब बोध प्राप्त करने के बाद देश-देशान्तर में अपने मत एवं दर्शन-सिद्धांतों का प्रचार करते हुए अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में पहुंच कर धर्मोपदेश करने लगे, तो उनके नव्य दर्शन से प्रभावित होकर उन्ही के अनेकों जाति-भाई उनके मत में दीक्षा ग्रहण करने लगे। किन्तु गौतम गौतम बुद्ध का अपना ही भाई नंद अपनी रूपवती पत्नी सुंदरी के रूप-यौवन पर आसक्त होकर काम-कीड़ाओं में ही निमग्न रहता था। यों यह अपने भाई राजकुमार सिद्धार्थ के गृहत्याग एवं गौतम बुद्ध बनने तक की घटनाओं से अपरिचित भी नहीं था उनके प्रतिदिन प्रवर्द्धित हो रहे प्रभाव का भी नंद को ज्ञान था। इतना ही नहीं, वह उनके मत एवं दर्शन के प्रति आकर्षित भी था। इस संबंध में अपने विचार प्रगत करते हुए डॉ० सुरेश अवस्थी लिखते है:

" लेकिन नंद का मन स्थिर-भाव से सुंदरी का रूप भोग नहीं कर पाता, क्योंकि कहीं भीतर उसके मन में अस्थूल और असंसारी तस्वों के प्रति भी आकर्षण है। उसके मन का यही संस्कार और उसको शोषित करने वाली बाहा परिस्थितियां नाटक के द्वंद्व का आधार है।" और यह द्वंद्व वास्तव में प्रवृति एवं निवृत्ति् मार्गो का ही द्वंद्व है। प्रवृति-मार्ग नंद को घर की ओर अपनी रूपवती पत्नी सुंदरी की ओर आकर्षित करता है, जबकि निवृति-मार्ग गौतम के जीवन संबंधी नव्यदर्शन की ओर आकर्षित करता है। यह द्वंद्व उस समय प्रबलतम से उठता है, जब गौतम बुद्ध भिक्षा के लिये नंद के द्वार पर आकर उपेक्षित खाली हाथ लौट जाते हैं और तब अलका द्वारा उनके लौट जाने का समाचार सुनकर नंद क्षमा-याचना के लिये जाने को अत्यधिक व्यग्र एवं विवश हो उठता है। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का स्वर घोष सुनकर नंद के हाथों में थामे हुए प्रसाधनार्थ-दर्पण का गिर कर खंडित हो जाना उसी विवशता का द्योतक है। यहां यह भी कहा जा सकता है कि दर्पण का खंडित होना वास्तव में प्रवृति-दर्शन का खंडित होना ही है। इसी प्रकार कमल-ताल में (बुद्ध की) छाया-दर्शन प्रवृति-मार्ग पर निवृति यथा क्रमश: हावी होने- निवृति प्रवृति के दोनों पक्षों के समानान्तर रूप से प्रदर्शित होने के प्रतीक दार्शनिक पहलू ही है। उसी प्रकार प्रवृति-निवृति का संघर्षण नाटक में आये अनेक स्थलों पर अन्यान्य घटनाओं के रूप में भी देखा जा सकता है। अपनी अपनी थकान एवं क्लान्ति से मृत मृग की पुनवरि चर्चा एवं चिन्ता, नन्द के दीक्षित हो जाने एवं केश-कर्तन के बाद जंगल में जाकर व्याघ्र से भिड़ जाने की घटना, दार्शनिक पहलुओं को ही उजागर करने वाली। गौतम बुद्ध के पास क्षमा-याचना के लिये जाकर जब नंद अनिच्छित रूप से ही

सही, बुद्ध-मत में दीक्षित हो जाता है, उस अनचाहे से प्रतीत होने वाले वेश में घर लौट कर जब वह सोई सुन्दरी को निहार कह उठता है।

"जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है।" यहाँ भी द्वन्द्वग्रस्त दार्शनिक चेतना का ही उन्मेष हुआ दिखाई देता हैं एक प्रकार निवृति का प्रवृति मार्ग पर बलात् हावी हो जाना है और जीवन में कभी-कभी अनायास ऐसा हो भी जाया करता है। कई बार व्यक्ति के जीवन में उसकी समस्त धारणाओं एवं अपेक्षित दर्शनों में एक ही झटके के साथ सहसा परिवर्तन हो जाया करता है। स्पष्ट है कि नंद के व्यक्तित्व का उन्मेष कमशः प्रवृति-मार्ग की ओर होता जाता है। नाटककार के अनुसार नंद का निवृति-मार्ग चाहे परिस्थितियों की विवशता की ही देन क्यों न हों, परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि नंद ने अंत में इसी मार्ग पर चलना श्रेयस्कर समझा था। उसे बाँध कर इस मार्ग पर नहीं रखा गया था, क्योंकि किसी भी युग में किसी के भी साथ ऐसा अधिक देर तक नहीं किया जा सकता। काम्य न होते हुए भी निवृति मार्ग नाटक की अंतिम परिणति है और यही 'लहरों के राजहंस' के दर्शन एवं जीवन-दर्शन का एक पहलू भी है।

दूसरी ओर रूप-गर्विता नंद की पत्नी सुंदरी जीवन के भोगो को ही सब कुछ मानती है। उसके लिये एक बार मन में उत्थित कामना का स्थान असहाय है, इसका पता पहले अंक में कामोत्सव में भाग लेने के लिये किसी के न आने के समय व्यक्त प्रतिक्रियाओं द्वारा भली प्रकार लग जाता है। उसका दर्शन उस समय स्पष्टतः प्रतिध्वनित होने लगता है कि जब असमय में ही- कामोत्सव की तैयारी में संलग्न सन्ध्या के झुटपुटे में उसे कमल-ताल के राजहंसों का किलोल भरा स्वर सुनाई देता है और वह अलका को लक्षित करते हुए कहती है।

"कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमल-ताल के पास आकर इनसे भी निर्वासन और अमरत्व की बात कहें।

इस उक्ति में व्यंग्य का जो भाव अन्तर्हित है, वह वास्तव में प्रवृति मार्गियों की निवृति मार्ग पर करारी चोट है इससे यह भी स्पष्ट है कि सुंदरी की चेतना दार्शनिक दृष्टि से नंद के सामने अस्थिर न होकर समग्रतः स्थिर है और वह अपने समूचे व्यक्तित्व में प्रवृति-मार्गी है। सुंदरी के दर्शन को यद्यपि समग्रतः खाओ-पियो करो आनन्द, भाड़ में जाय परमानन्द अथवा "यावत् जीवेत् सुखं जीवते ऋण लृत्वा घृतं पिवेत्" वाले सैद्धान्तिक चार्वाक का दर्शन तो नहीं कहा जा सकता, परंतु निश्चय ही वह आधुनिक भौतिक वादियों का ही समग्र दर्शन है। इस दृष्टि से उसे चार्वाक दर्शन भी कह सकते हैं, क्योंकि वह भी समग्रतः प्रवृति मार्गी ही है, बौद्ध-दर्शन के समान निवृति मार्गी नहीं। सुंदरी के जीवन में इस दर्शन की चरम परिणति उस समय देखी जा सकती है कि जब नाटक के अंत में दीक्षित होने के बाद घर लौटा नन्द सुंदरी के मस्तक के सूखे बिन्दु को गीला करने को उसके चेहरे पर झुकता है, तो वह चौंक कर जाग जाती है। नन्द के कतत केशों वाले भिक्षु-वेश की निहार उकसा मन वितृष्णा से भर जाता है और वह कहती है अलका से -

" वे लौट आये है! ··· फिर ऐसा ··· ऐसा भयानक सपना मैने देखा? ··· देखा कि मै झुले में पड़ी हूं ·· सहसा एक ठण्डे स्पर्श से आँख खुल जाती हैं आँख खुलते ही (सिहर कर) ··· देखती हूँ कि एक रूण्ड-मुण्ड आकृति मेरे मुँख पर झुकी हुई है, उसका हाथ माथे पर है ·· तभी मेरे मुह से चीख निकल जाती है और मैं ··· मैं सचमुच जाग जाती हँ।" और फिर वह कहती है- "वह आकृति एक दुःस्वप्न नहीं ··· यथार्थ है ··· मेरा अपना यथार्थ ··· क्या मै उनका सामना कर सकती हूँ? ···" और जब अलका कहत है कि कुमार आप को प्रसाधन-हीन देख कर क्या कहेंगे, सो सुंदरी फिर अपने दर्शन के अनुरूप ही बात कहती है- "वे नहीं आये, अलका! जो लौटकर

आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है ··· कोई दूसरा ही ···।''

और आड़ में खड़ा हुआ नंद यह सब सुनकर जैसे सन्न-सा रह जाता है। उसकी चेतना भी एकाएक अंगड़ा कर चौंक उठती है। वह सोचता -कहता है - ''कोई दूसरा ही! ··· तो क्या सचमुच में कोई दूसरा ही हूं? भिक्षु ने यही कहा था ··· तुम भी अब यही कह रही हो! परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ! मात्र इसलिये कि कसी ने हठ से मेरे केश काट दिए है?'' स्पष्टत: यहाँ एक ही कोण पर दो दर्शन टकराते हुए दिखाई दे रहे है। दोनो से एक ही ध्वनि मुखर हो रही है- ''तुम वह नहीं हो ··· तुम वह नहीं हो!'' हम एक ही ध्वनि से दर्शन के दो मार्ग अलग हो रहे हे- एक तो चार्वाक-दर्शन का प्रवृति मार्ग, जिसे आधुनिक भौतिक दर्शन भी कह सकते है। दूसरा बुद्ध-दर्शन का निवृति मार्ग, अलक्षित रूप से जिस मार्ग पर चलने के लिये आज के वैज्ञानिक एवं भौतिक दर्शन की आत्मा भी छटपटा रही है। क्योंकि इसके बिना सहज शांति एवं सन्तोष उपलब्ध नहीं हो सकते। प्रश्न है कि फिर इनमें से सत्य क्या है- कौन-सा जीवन दर्शन सत्य के समीप है? प्रश्न का कोई भी उतर नाटककार ने नाटक में नहीं दिया। इसी ध्वनि-प्रति-ध्वनि के कोण-बिन्दु पर लाकर छोड़ दिया है। तभी तो अव्यवस्थित नन्द को कहना पड़ता है:

''लगता है मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूं, जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है और अपने को ढकने के लिये उसके पास कोई आवरण नहीं ।''

वास्तव में भौतिक दर्शनों से ग्रस्त आज की मानवता के पास अपनी चेतनाओं की नग्नता को ढकने के लिए कोई आवरण नहीं है! है केवल नंद की-सी अकुलाहट, छटपटाहट एवं द्वंद्व से मुक्त होने की अनवरत तड़प- ''परन्तु मै इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता। ··· तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे ··· अब मुझे जाकर उनसे कई-कई प्रश्न पूछने होंगे।'' पर वह प्रश्न क्या हैं? शायद द्वंद्वग्रस्त के समान भौतिकतावादी आज की चेतना को स्वयं ही पता नहीं और ऐसी चेतना को पता हो भी नहीं सकता। क्योंकि यहाँ जीवन प्राय: निर्लक्ष्य सा रहता है- खाने पीने और मौज कर सकने की स्थितियों तक, सीमित, तभी तो नन्द कहता है- जीने की इच्छा को कितने-कितने प्रश्नों ने एक साथ घेर लिया है। व्याघ्र से लड़कर भी मन को शान्ति नहीं मिली ··· लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है ·· ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं है।'' और भुजा-हीन वह कौन है, जिसके साथ लड़ाई अनिकार्य है?- निस्सन्देह वह बुद्ध-मत या निवृति का मार्ग ही है, जिसमें व्यर्थ के संघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं। नन्द आज का मानव उससे भी लड़ना चाहता हैं क्यों लड़ना चाहता है आखिर? क्योंकि - ''मन में मृत्यु का भय है ··· किसी भी प्रकार की मृत्यु का ··· परन्तु उस भय के साथ एक आकर्षण भर दिया गया है।'' इसी कारण अनादि-काल से ही मानव- चेतना दर्शनों के दो राहों -चौराहों पर खड़ी अनवरत जूझती आ रही है। निर्णय कुछ नहीं कर पा रही। नन्द के समान उसकी चेतना में भी द्वंद्व है- केवल अनवरत द्वंद्व, चेतना एवं दर्शन का द्वन्द्व:

''अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न-चिन्ह ··· केवल एक प्रश्न-चिन्ह बना कर छोड़ दिया गया है। ··· क्यों ···?''

इसी क्यों का उतर खोजने के लिये नन्द घर में आकर भी लौट जाता है पर कहाँ है इस 'क्यो' का उतर? भौतिक जगत में सत्य है केवल सूनापन -और वही इस 'क्यों' का उतर भी है। वह सूनापन जो सुंदरी के शब्दों में - ''वहाँ वह सूना कमल-ताल ···'' क्योंकि वहाँ के हंस (दार्शनिक शब्दावली में हंस आत्मा एवं निर्मल चेतना का प्रतीक है) उड़ चुके है और फिर- '' ··· यहाँ कथा का वह सूनापन ···'' क्योंकि यहाँ का राजहंस नन्द भी उड़ चुका

है अलक्षित दिशा की ओर और इसी कारण सुंदरी के लिये- ''लगता है आज घर अपना नहीं रहा ··· कोई कितना भी चार्वाकवादी या भौतिकतावादी हो जाए, इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि सत्य -अन्तिम सत्य केवल यही है कि- '' ··· आज घर अपना नहीं रहा ···।'' इस तथ्य को गौतम नन्द भी जान लेता है ओर उसकी प्रियतमा सुंदरी भी। इसके बाद चाहे नन्द अपने केश लौटा लोने के लिये यह कह कर जाए कि 'उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है ···'' और चाहे सुंदरी यह कहती रहे कि - ''इतना ही तो समझ पाते है ये लोग! ··बस इतना ही तो उनकी समझ में आ पाता है।'' कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि 'लहरो के राजहंस' नाटक में कोई निश्चय दर्शन प्रतिपादित नहीं किया गया। उसमें तो मुख्यत: चार्वाक-दर्शन या आधुनिक शब्दावली भौतिक-जीवन दर्शन और बौद्ध-दर्शन का द्वन्द्वात्मक मानसिक संघर्ष ही चित्रित किया गया है। इसी को हम विशुद्ध दार्शनिक शब्दावली में 'प्रवृति' और निवृति' के दर्शनों का द्वंद्व भी कह सकते हैं इन्हीं दो दर्शनों के अन्तर्द्वन्द्व को दो समानान्तर स्तरों पर नाटक में चित्रित किया गया है। इन्हीं की आकुल टकराहट नाटक में नाटकीयता की चरम परिणति है। यह परिणति ही नाटकीय संचरण में वेदना को तीव्रता एवं गहराई प्रदान करती है। फिर नाटककार का उद्देश्य मुख्यत: किसी दर्शन को प्रतिपादित करना है भी नहीं, उसका उद्देश्य तो दर्शनों में उलझी चेतना को ही रूपायित करना है। यह रूपायन निश्चय ही नाटक में विविध स्तरों पर, विविध भाव-भंगिमाओं में हुआ है। फिर नाटककार स्वयं स्वीकार करता है कि यहाँ नंद और सुंदरी की कथा एक आश्रयमात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। इसी कारण नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मानव की दर्शनों में उलझी चेतनाओं का द्वंद्व मात्र ही है, किसी दर्शन विशेष का प्रतिष्ठापन या आस्था की अन्तिम अभिव्यक्ति अथवा परिणति नहीं।

'निवृति' एवं प्रवृति' की दार्शनिक चेतना का समावेश नाटक में अति-आरम्भ से ही हो जाता है। कामोत्सव की साज-सज्जा के लिये श्यामांग पत्तियाँ तोड़ रहा है और वे उलझती ही जाती है, तब श्यामांग अपने साथी श्वेतांग से कहता है- ''मुझे तुम से ईर्ष्या होती है।'' क्योंकि श्वेतांग दीपक जला रहा है और उसमें से किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं हो रही। घ्यातव्य यह भी है कि नाटक में श्वेतांग के चरित्र में किसी भी प्रकार का द्वंद्व चित्रित नहीं किया गया। उधर श्यामांग तो है ही सजीव द्वंद्व! वह श्वेतांग को दीपक जलाते देखकर कहता है:

'' देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जा रहा है। न कुछ उलझता है, न कुछ विखरता है।''

स्पष्टत: यहाँ पत्तियों का उलझाव आधुनिक भौतिक या प्रवुति-मार्गीय उलझाव ही है, जब कि दीपक से दीपक जलने की प्रवृति ज्ञान ज्योति का प्रतिक गौतम बुद्ध के दर्शन का क्रमश: विस्तृत होता प्रभाव आदि निवृति मार्गी तथ्यों का अखण्ड प्रकाश है, जो स्वयं जलकर, प्रकाश प्राप्त करके अन्यों को जलाकर आलेकित करता हैं यही पत्तियें का उलझाव और दीपक से दीपक जलने का प्रकाश दो विभिन्न दर्शनों के रूप में नाटक में अन्त तक चित्रित हुआ है।

नाटक की नायिका सुंदरी का व्यक्तित्व आरम्भ से ही चार्वाक दर्शन से प्रभावित प्रतीत होता है और अन्त तक वह इसी कोण पर अडिग खड़ी दिखाई देती है। वह आरम्भ में कामोत्सव की तैयारी में तत्परता से संलग्न दिखाई देती थी वह अपने आयोजन को वर्षो तक के लिये लोगों के स्मृति-पटलों पर अंकित कर देना चाहती है। आधुनिकता के परिवेश में एवं भौतिक प्रभाव को आकाँक्षिणी नारी भी क्या यहीं नहीं चाहती? उसकी (सुंदरी की) प्रवृति एवं जीवन दशन को उसी के अपने शब्दों में इस प्रकार अंकित किया जा सकता है। वह अलका से कहती है:

''रात बीतने दे फिर अपने मन से पूछना। रातभर नगर वधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कथा में हवा

कांपती रहेगी। हवा कांपती रहेगी, और ढुलकती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरूष रातभर उस मदिरा में और अन्यान्य मणि-मदिराओं में डूबते -उतरते रहेगे। तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पायेगे।

स्पष्टत: यहाँ 'प्रवृति' मार्ग या चार्वाक-दर्शन के प्रति आग्रह ही दिखाया गया है। परन्तु यह भी सत्य है कि इस प्रवृति-दर्शन के साथ संशय का भाव भी जुडा हुआ है और संशय का भाव ही इस दार्शनिक -मार्ग की सबसे दुर्बलता भी है। संशय की भाव उपरोक्त दर्शन के साथ ही अलका के मुख से मुखरित होने लगता हैं। वह सपना देखती है- '' सूखा सरोबर, पत्र हीन वृक्ष और धूलभरा आकाश।'' और सुंदरी कह उठती है- ''यह भरा-पूरा यौवन और हदय में धूल-भरा आकाश।''' कही यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।'' यह संशयास्पद एवं आशंकाओं से भरी स्थिति वास्तव में, प्रवृति-मार्ग में हमेशा बनी रहती है। यहाँ हमेशा दो दो धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती है। श्यामांग के शब्दों में:

''पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थी।''' परन्तु तब यहां कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है अस बार''' जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है।''' कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ''' यहाँ रातभर नृत्य होगा, आपानक चलेगा'''।''

श्यामाँग की चेतना में विरोधी स्थितियों का चित्रण वास्तव में दार्शनिक द्वंद्व है। यहां इस द्वंद्व से यह भी प्रकट होता है कि प्रवृति मार्ग वास्तव में मानव चेतना को प्रतिक्रियावादी और ईर्षालु भी बना देती है। तभी तो यशोधरा के भिक्षुणी होने के अवसर पर ही सुंदरी कामोत्सव के आयोजन द्वारा अपने चित की वृतियों के अनुकूल-विलास- वैभव का प्रदर्शन करना चाहती है। प्रवृति मार्ग की यह अवश्याम्भावी नियती है। इतना ही नहीं, सुंदरी के माध्यम से नाटककार ने आधुनिक चेतना के रूप में निवृति मार्ग का उपहास उड़वाने का प्रयत्न भी किया है। सुंदरी यशोधरा के भिक्षुणी बनने के प्रसंग में कहती है:

''अभिप्राय यही है कि देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?'' और यह प्रवृति मार्ग व्यक्ति अहँ की कितना अहँकारी बना देती है, कई बार गलत बातें सोचने के लिये बाधित कर देता है, सुंदरी के निम्न शब्दों से क्या इसी बात की प्रतिध्वनि नहीं सुनाई दे रही? - नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, दो उसका आकर्षण उसे गोतम बुद्ध बना देता है।'' इसे हम प्रवृति मार्गियों के दर्शन एवं अहँ की विकृति भी कह सकते है। क्यों आस्थाओं की खिल्ली उड़ाने का अधिकार पर अडिग रहते हुए भी अन्यों की दृष्टि से वास्तव में कोई भी दर्शन पूरा नहीं, तभी तो एक के बाद एक इति श्री मानता है, वहीं से दूसरी विचारधार का आरम्भ हो जाता है। फिर समाप्ति एवं पूर्णता कहाँ? प्रवृति मार्गी होते हुए भी सुंदरी निवृति मार्गियों पर एक बड़ा ही सार्थक व्यंग्य करती हैं। देवी यशोधरा के भिक्षणी बनने के संदर्भ में ही कहती है।

''पर मैं कहती हूं कि कामनाओं को जीता जाए, यहा भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है? वास्तव में किसी भी मार्ग पर बढ़ना कामना का ही अनुसरण होता हैं संदर्भ में अपने को यथातथ्यावादी मानने वाले या साम्यवाद या समाजवादी दर्शन को भी आदर्शवादी ही मानते है। क्योंकि साम्य या समाजवाद के लक्ष्यों को प्राप्त करना उसकी कामना है, अत: एतद अर्थ में उसका आदर्श भी है। अपने उपरोक्त प्रश्न

का उतर भी सुंदरी स्वयं ही देती है और अलका से कहती है:

''इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से उब जाते हैं। तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं। '' हमारे विचार में सब दर्शनों का मूल यह नव्यान्वेषिणी मानव प्रकृति ही है। सभी दर्शनों का आधारभूत तत्व भी यही है और 'लहरो के राजहंस' में नाटककार मोहन राकेश की यदि कोई दार्शनिक या जीवन दर्शन संबंधी चेतना हो सकती है, तो वह मात्र यह नव्यान्वेषण की चेतना ही। यह एक नितांत सीमित एवं अकाटय तथ्य है कि मानव-प्रकृति स्पभावत: नव्यान्वेषिणी है। संसार के भौतिक रूपों एवं विविध दार्शनिक प्रवृतियों के विकास का मूलाधार निश्चय ही यही मानव प्रकृति है। तभी तो अनेकानेक दार्शनिक प्रवृतियों एवं मान्यताओं के रहते हुए भी नित नये दर्शन सामने आते रहे हैं और अनवरत आ रहे है। सामयिक परिवेश में सूचि का अपना महत्व भी है। कोई भी नव्य-दर्शन सामने आने पर मानवों की स्थिति कमल-ताल के राजहंसों की -सी होती है। सुंदरी के शब्दों में:

''कोई गौतम बुद्ध से हे कि कभी कमलताल के पास आकर उनसे (राजहंसों से) भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखगें, कॉपती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएँगे।'' राजहंस कह क्यों, सभी मनुष्य किसी भी नये दर्शन की ओर पहले चकित भाव से देखते हैं- देखते रहते है और फिर किसी नये दर्शन की कॉपती लहरें आती हैं, अपने साथ उनको भी बहाकर ले जाती है। यही सृष्टि के व्यवहार का चरम सत्य है। यहाँ तो किसी न किसी नव्य दार्शनिक चेतना की छाया श्यामांग की चेतनाओं में उभरती ही रहती है। वे उन छायाओं को उन्मादक स्थिति में पत्थर मारते रहते हैं और वे हिलडुलकर समाप्त हाती ही रहती है। कोई किसी से कुछ नहीं कहता। कहना-सुनना यहाँ सब कुछ मात्र भ्रान्ति ही है और सत्य है कि भ्रान्तियों पर ही अनवरत संसार चल रहा है।

नाटक में प्रवृति-दर्शन के साथ-साथ निवृति मूलक भावनाएं भी आरंभ से ही उजागर होने लगती है। पहले ही अंक में जब कुमार नन्द आखेट से लौटकर सुंदरी के कक्ष मे आता है, तो उसका स्वभाव चंचल हो रहा होता है। क्योंकि उसके मस्तिष्क पर एक आहत मुग की छाया छा रही होती है। क्या मृग हाथ में आकर निकल गया, सुंदरी के इस प्रश्न पर नंद उतर देते हैं:

''हाथ से निकला भी तो नहीं।''' सच, थकान उतनी शरीर की नहीं जितनी मन की है। मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ, इससे मन को इतना खेद नहीं हुआ, जितना उससे''' कि जब थककर लौटने का निश्चय किया तो वही मृग''' थोड़ी ही दूर आग''' रास्ते में मरा हुआ दिखाई दे गया'' स्पष्टत: यहाँ संस्कार-गत मार्गी प्रवृतियों को उभारते दिखया गया है। यह उभार उस समय तो और भी स्पष्ट हो जाता है कि जब नंद यह कहते है- ''बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की-सी अनुभूति। परंतु बिना घाव के अपनी ही क्लान्ति से मरे हुए मृग को देखकर मन में जाने कैसा लगा। और लौटकर आते हुए अपने -आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा। कि''' वास्तव में यह थकान अपने वर्तमान जीवन की थकान है। उन बाहर एवं संवेदना की अनुभूति बौद्ध दर्शन के अनुरूप है। मरे हुए मृग का सजीव लगना हाथ के छूने से ही भाग उठने की प्रकल्पना आदि दो दर्शनों का द्वंद्व है। और फिर नंद द्वारा उस मृत मृग को उठाने से आखेटक को रोक देना, उसे मृत या जीवित स्थिति में पड़े रहने देने की आज्ञा पूर्णतया बौद्ध दर्शन के निवृति मार्ग के अनुकूल है।

इस प्रकार 'लहरो के राजहंस' में दर्शनों का द्वंद्व ही स्पष्टत: अंकित हुआ है। उनकी खींच-तान भी देखी जा

सकती हैं सुंदरी का यह कथन उस खींच-तान का ही परिणाम है। क्योंकि उसके कामोत्सव में भाग लेने के लिये कोई नहीं आता, कारण भी स्पष्ट है- यशोधरा का भिक्षुणी बनना, फिर भी प्रवृति मार्ग में भला कामना कैसे टाली जा सकती है, अतः सुंदरी मैत्रेय से कहती है:

"कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय ! मैं अपनी आज की कामना कल के लिये टाल रखूं··· क्यों? मेरी कामना मरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है।" उसे भी हम तो प्रवृति दर्शन की भ्रान्ति हो कहेंगें क्योंकि उसमें उतावलापन है और यह उतावलापन आज मानव के लिये सभी क्षेत्रों में कितना घातक प्रमाणित हो रहा है, किसी से छिपा नहीं । ऐसी स्थिति में श्यामांग या किसी को भी किसी प्रकाश-किरण के दर्शन भी कैसे हो सकते हैं? क्यों न जीवन उन सब के लिये अन्धकूप बन जाय? क्यों न मानव चेतना उससे निकल भागने के लिये अकुलाए और -क्यों न विवशतः ही नंद को उससे निकलना पड़े? मानव अन्तर्मन की प्रवृतियाँ रह रहकर हिचकोले खाकर निवृति की ओर क्यों न अग्रसर हो! कचोट··· अलक्षित कचोट मानव-चेतना को किसी भी दर्शन की ओर ले जा सकती हैं मृत मृग का चेतनागत संस्मरण करते हुए नंद कहता है।

"वहाँ पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था। और न जाने क्यों इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा··· कोमल, अक्षत और निर्जीव। "

मृत हिरण की स्मृतियाँ, उनमें सुंदरी के प्रसाधन की चेष्टा, उस पर बौद्धनारों की गूँज। यदि दर्पण हिल जाए, केवल हिल ही नहीं, बल्कि गिरकर खण्डित भी हो जाए, तो कोई असम्भावित बात नहीं । चेतनागत अस्थिरता व्यक्ति को किसी भी दर्शन की ओर ले जा सकती है। तब व्यक्ति को अपना व्यक्तित्व भी टुटा हुआ-सा, खण्डित-सा प्रतीत होने लगता है और वह किसी प्रकार की पूर्णता की ओर बेतहाशा दौड़ता है। फिर चाहे पंखों में शक्ति रही हो या न, राजहंस भी कमल-तालों से उड़ जाते हैं । सभी आकर्षणो आसानी से टूट जाते है। बस, एक ही प्रश्न चेतना का द्वंद्व एवं प्रश्न बन जाता है, और तब व्यक्ति किसी दिशा को खोजने के लिये सतत् आकुल हो उठता है। भिक्षु आनन्द के शब्दों में:

"तुम अपने लिये दिशा खोज रहे हो, यह व्याकुलता ही वास्तविक आरंभ है। तुम यह जानते हो, इसीलिये अपनी व्याकुलता से इतना नहीं लड़ रहे।"

पर व्यक्ति अपने से लड़ता अवश्य है। नंद अपने-आप से लड़ने के लिये ही पहले व्याघ्र से लड़ता है और बाद में मदिरा से लड़ना चाहता है, किन्तु लड़ नहीं पाता। क्योंकि अप्रत्यक्षतः उसका दृष्टिकोंण या जीवन-दर्शन परिवर्तित हो चुका है, फिर चाहे उसे पलायन का नाम ही क्यों न दे दिया जाए। क्योंकि दो प्रवृतियाँ कभी एक साथ जीवित नहीं रह सकती। एक न एक का त्याग अवश्यम्भावी हो जाता है। फिर चाहे किसी का विश्वास ओढ़कर जीना चाहे अथवा नहीं, उसे जीने के लिये दूसरों के विश्वास को ओढ़ना ही पड़ता है।

नाटक के अंतिम पृष्ठों में दार्शनिक द्वंद्व अत्यधिक प्रबल हो उठा है। वहाँ नाटकाकर ने परोक्ष रूप से प्रवृति-मार्ग का समर्थन भी किया है, लेकिन हमारे विचार में यदि समर्थन करना नाटककार का उद्देश्य रहा होगा, तो उसे इसमें सफलता नहीं मिली। वह तो मात्र दर्शनों के द्वंद्व को ही चित्रित कर पाया है। क्योंकि नाटककार ने नंद की चेतना को अंतिम क्षण तक द्वंद्व से मुक्त नहीं होने दिया। वह एक साथ बुद्ध के शब्दों में भी बोलता है और चार्वाक के शब्दों में भी:

'' इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं सुख-सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पॉव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट ''' परन्तु वह स्पन्दन , वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? ''' आकाश में कहीं लटके हुए नीले काले बिंदु-कोरे सिद्धांतों के- वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?''

और फिर वह बुद्ध मत दृष्टिकोंण से सोचता हुआ प्रतीत होता है- ''उन्होने कहा ''मै नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं है ''' सब किसी उँगली से आकाश में बनाए गए चित्र है जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते है, जिनका होना न होना से भिन्न। ''' पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अंतर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिए?''

हमारे विचार में तो 'होना न होने के समान' वाला दर्शन ही अप्रत्यक्षत: सत्य है। किंतु नाटककार ने स्थात् इसे स्वीकार नहीं कियां क्योंकि स्वीकृति या अस्वीकृति उसका सर्जनागत उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। उसका उद्देश्य तो दो दर्शनों का द्वंद्व प्रस्तुत कर देना मात्र ही प्रतीत होता है। फिर भी लगता है कि प्रवृति-दर्शन के प्रति नाटक़कार का कुछ आग्रह अवश्य है। इसी कारण तो उसका कुमार आनंद कहता है:

''जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है। ''' परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता। ''' जीने की इच्छा को कितने -कितने प्रश्नों ने साथ-साथ घेर लिया है।'' नाटककार अवश्य ही उस घेराव से छुटकारा चाहता है। पर वह छुटकारा कैसे सम्भव है, स्पष्ट नहीं। यह प्रश्न अनुत्तरित ही है।

अन्त में निष्कर्प स्वरूप कहा जा सकता है कि 'लहरो के राजहंस' में नाटककार अपने किसी विशिष्ट दर्शन को लेकर नहीं चला। उसने प्रवृति-दर्शनों के प्रति आग्रह अवश्य दिखाया है, किन्तु मूलत: वह ऐतिहासिक संदर्भो में प्रवृति -निवृति-संबंधी मानव-चेतना के चिरन्तन एंव शाश्वत द्वंद्व को ही मुखरित करना चाहता है। इस मुखरण में उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रवृति मूलक चार्वाक या आधुनिक जीवन-दर्शन और निवृतिमूलक बौद्ध-दर्शन का द्वंद्व भी काफी ओजस्विता के साथ मूर्त एवं मुखरित हुआ है। नाटककार की मूल उद्भावना की दृष्टि से इतना ही यहां पर्याप्त भी था। वह दीपक से दीपक जलाना चाहता है, फिर वह दीपक किसी भी प्रकार का क्यों न हो: उसका काम्य तो शाश्वत प्रकाश ही है।

39.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के दर्शन का विवेचन कीजिए।
2. लहरों के राजहंस में कौन सा दर्शन है स्पष्ट कीजिए।

लहरों का राजहंस - प्रतीकात्मकता

पाठ-संरचना

40.0 उद्देश्य
40.1 परिचय
40.2 लहरों के राजहंस : प्रतीकात्मकता
40.3 अभ्यास के प्रश्न

40.0 उद्देश्य

'लहरों के राजहंस' की प्रतीकात्मकता को लेकर काफी चर्चा हुई है। श्यामांग को नाटक में एक प्रतीक के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। श्यामांग नंद की संशयग्रस्त मनःस्थिति को प्रकट करनेवाला पात्र है। प्रतीक की दृष्टि से राजहंसो का प्रसंग भी नाटक को बोझिल बनाता है। नाटक के संशोधित रूप में श्यामांग एक प्रतीक पात्र होते हुए भी उतना बाधक नहीं है। वह नंद के मन की संकुलता को ही रेखांकित करता चलता है। उसका उन्माद बहुत सोचने वाले मन का सम्भ्रम है। इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस की प्रतीकात्मकता से पाठकों को परिचय कराना है।

40.1 परिचय

प्रतीकों के प्रयोग में यह हमेशा स्मरण रखना होगा कि नाटक किसी एक व्यक्ति या विशिष्ट से ही संबंध नहीं होता, समूह परक होता है इसलिए पूरे समूह को एक साथ कलात्मक अनूभूति कराना उसका कर्तव्य होता है। दर्शक समूह अधिक प्रतीकों और पात्रों के गूढ़ अस्पष्ट कथनों को समझने की मनोवृति में नहीं होता। श्यामांग के प्रतीक रूप पर बहुत सी प्रतिक्रियाएँ होने पर भी मोहन राकेश के पास कोई स्पष्ट उतर नहीं था। उनके मन में श्यामांग को लेकर अनेक प्रश्न उठते रहे है। जैसे नाटक में उसके संबंध में कोई नियम ही निर्धारित न हो। उसे नाटक से हटाना उनके लिए संभव नहीं था। आस-पास की सारी व्यवस्था से अलग, सारे परिदृश्य में बाधा डालते हुए भी जैसे वह उस परिदृश्य की सम्पूर्णता के लिए अनिवार्य हो। धीरे-धीरे श्यामांग एक व्यक्ति नहीं रहा एक आभास में बदल गया।

सारे प्रतीक को सुंदरी के ये वाक्य ही स्वतः स्पष्ट कर देते हैं- 'परंतु राजहंस आहत थे-कम-से कम एक उनमें अवश्य आहत था।'

40.2 'लहरों के राजहंसः प्रतोकात्मकता

आध्यात्मिकता, दर्शन एवं साहित्य में प्रतीकों की योजना करना यद्यपि कोई नव्य-विधान नहीं है, अत्यन्त प्राचीन

काल से इन क्षेत्रों में प्रतीकों का प्रयोग होता आया है, फिर भी आज साहित्य की प्रत्येक विधा में विभिन्न एवं वैविध्यपूर्ण प्रतीकों की योजना करना एक परम्परा-सी बन गई है। काव्य के क्षेत्र में प्रतीकों एवं बिम्बों का विधान करने की प्रक्रिया का आरम्भ वास्तव में छायावादी युग (आधुनिक परिप्रेक्ष्य में) से हुआ। उसके बाद प्रगतिवादी साहित्य में भी इनका विधान मिलता है- यों मध्यकालीन सन्त-साहित्य में भी प्रतीक देखे जा सकते है। आज तो वास्तव में साहित्य समस्त विधाएँ ही - उनमें काव्य और नाटक विशेषत: अपने समग्र परिवेश में प्रतीकात्मक ही बन गई है। इस दृष्टि से यदि मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' को भी एक प्रतीकात्मक सर्जना कह दिया जाये, तो कोई अत्युक्ति न होगी। वास्तव में, इस नाटक में प्रतीकात्मक का अत्यंत सुंदर एवं सजीव विधान हुआ है।

'लहरों के राजहंस' नाटक के कथानक साहित्यिक परिवेश में आधुनिक जीवन के द्वंद्वग्रस्त भाव-बोध को स्वरूप, आकार एवं संवेदन प्रदान किया गया है। उसी परिप्रेक्ष्य में रचनात्मक दृष्टि से इस कथानक ऐतिहासिकता भी और युग-बोध भी सार्थक कहा जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह है कि नाटक का नाम 'लहरों के राजहंस' ही प्रतीकात्मक है। लहरों पर तिरते राजहंस की गति-दिशा अस्थिर होती है और नाटक के अप्रत्यक्ष पात्र नन्द एवं श्यामांग आदि तो अस्थिर-मति है ही सही, उसमें प्रक्षेपित आधुनिक द्वंद्व अश्वघोष विरचित 'सौन्दरानन्द' काव्य का निम्नलिखित श्लोक है:-

"तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुराग: पुनराचकर्ष ।

सौनिश्चयन्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विवराजहंस: ।।"

नन्द के मन का कभी गौतम बुद्ध की ओर तथा कभी अपनी रूप-गर्विता पत्नी सुंदरी के रूप-यौवन की ओर घड़ी पैण्डुलम की तरह झूलना, लहरों पर डोलते राजहंसों की-सी गति होना सम्पूर्णत: प्रतीकात्मक ही है। जब नाटक का मूल आधार ही प्रतीकात्मक लक्षित है, तो फिर क्रिया-व्यापार में भी उसका आ जाना पूर्णतया स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

सीमा:- 'लहरों के राजहंस' में प्रतीक-योजना कहाँ तक संगत, सफल एवं उचित हैं, यह निर्णय करने से पहले इस बात पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा कि नाटकों में इनका विधान किस सीमा तक होना चाहिये और कहाँ तक वह सभी दृष्टियों से उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। सबसे पहली वस्तु तो यह है कि नाटक का सीधा संबंध रंगमंच से होता है। रंगमंच का सीधा संबंध सुशिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के दर्शको से रहता है। अत: नाटककार के लिये इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक होता है कि उसके प्रतीक सर्व-सामान्य के लिये भी उतने ही सहजगम्य हों, जितने कि विशिष्ट एवं सम्पन्न मन-मस्तिष्क वाले दर्शकों के लिये हो सकते हैं उनका प्रत्येक दर्शक के लिए बोधगम्य होना परमावश्यक है! क्योंकि यदि सहज बोधमयता उनमें नहीं रहेगी तो दर्शक में नाटक-दर्शन के समय उब एवं अरूचि उत्पन्न होगी। परिणामत: नाटक के प्रदर्शन एवं दर्शन का उद्देश्य ही व्यर्थ होकर रह जायेगा। इस प्रकार की व्यर्थता नाटककार की संपूर्ण विफलता ही कही जायेगी। दूसरे प्रतीक-विधान में जटिलता तो किसी प्रकार भी नहीं रहनी चाहिए। तीसरे प्रतीकों का चुनाव सामान्य व्यवहार जीवन से करना ही अधिक उपयोगी होता है- जैसा कि कबीर आदि सन्त कवियों ने किया। ऐसे करने से एक तो इस प्रकार की योजना सहज बोधगम्य हो जाती है और दूसरे व्यवहारिक परिचय के कारण वह अधिक प्रभावी भी प्रमाणित होती है। नाटकों में विशेषत: प्रतीक - योजना करते समय इन्हीं तथ्यों का ध्यान रखना प्राय: अनिवार्य होता है। इसी को हम प्रतीक-योजना की सीमा मान सकते है।

'लहरों के राजहंस' : प्रतीक-योजना:- उपरोक्त संदर्भो में जब हम 'लहरो के राजहंस' नाटक की

प्रतीकात्मकता पर विचार करते हैं तो पहला तथ्य यह उजागर होता है कि सामान्यतया इसकी प्रतीक योजना सहज नहीं कही जा सकती। उसमें मोहन राकेश के पूर्ववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की तुलना में अधिक जटिलता है। यों प्रतीक-विधान सामान्यतया सभी नाटकों में न्यूनाधिक रहता है, परन्तु यहाँ तो वाँच्छित रूप से उनका प्रयोग किया गया है और वह भी जटिल रूप में। नाटक का मूल द्वन्द्व प्रवृति (सुंदरी) और निवृति (गौतम बुद्ध) अथवा पार्थिव (रूप-सौन्दर्य के भौतिक आकर्षण) और अपार्थिव (जीवन के समस्त बन्धनों से मुक्ति की साधना) मूल्यों की ओर द्विविधात्मक रूप से आकर्षित मानव (नंद) के अर्न्तद्वंद्व एवं द्विविधाग्रस्त चेतना को रूपायित करना हैं ऐतिहासिक संदर्भ में नाटक का नायक नंद अर्धजागृत सुंदरी के कथित विक्षोभ से घबरा कर, उसके प्रश्नों के उतर दे सकने की स्थिति में अपने को न पाकर, पलायनवादी मनोवृतियों का परिचय देते हुए अन्त में सुंदरी का परित्याग करके अपने कुछ प्रश्नों के उतर पाने के नाम पर घर में आकर भी वापिस गौतम बुद्ध के पास चला जाता है, क्योंकि वह तथागत से अपने केश माँगने और कुछ प्रश्नों का उतर पाने की बात कह कर ही वापिस लौटता है, अत: स्पष्ट है कि अन्तिम क्षण तक उसकी दुविधा एवं द्वंद्व का परिहार नहीं हो सका। वह यदि बुद्ध मत की शरण में भी जाता है, तो भौतिक या प्रवृति-मूलक द्वंद्व से सर्वथा विरहित होकर या निरपेक्ष भाव से नहीं जाता। उस तथ्य का उद्घाटन नंद के कहे गये निम्न शब्दों से हो जाता है:

" अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्न चिन्ह.....केवल एक प्रश्न चिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है।" इतना ही नहीं, वह एक अन्य स्थान पर - इसी संदर्भ में कहता सुना जा सकता है - "इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष दोनों अस्थायी है। सुख-सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई एक बून्द की अकुलाहट ··· परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? ··· आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिन्दु-कोरे सिद्धांतों के - वे अधिक स्थाई, अधिक सत्य कैसे है?"

" सत्य कैसे हैं?' का प्रश्न उस ग्रसित चेतना की ही गूँज है, जो नंद को निरपेक्ष नहीं होने देती। इस द्वंद्व का अन्त यही नहीं हो जाता, निरपेक्षता तो आ नहीं पाती- "उन्होने कहा, मैं मैं नहीं हूँ, तुम तुम नहीं हो, वह वह नहीं हैं ··· सब किसी उँगली से आकाश में बनाये गये चित्र है जो बनते बनते साथ साथ ही मिट जाते हैं, जिनका होना न होने से भिन्न नहीं है, ··· पर पर मैं पूछता हूँ कि जब होने में कोई अन्तर नहीं है तो मेरे केश क्यों कटवा दिये?" यह वह प्रतीकात्मक द्वंद्व है जो व्यक्ति की प्रवृतियों के केश कटवा देने के बाद भी (नाटक में) प्राय: बना रहता है। पर इसकी दार्शनिकता मूलक अवधारणा काफी जटिल है, जो सामान्य दर्शक की दृष्टि से पर्याप्त दुरूह भी है।

इस प्रकार की दुरूहता सामान्य जन के लिये अन्यत्र भी बनी रहती है। यों नाटक में प्रयुक्त नव्य विद्या से और रंग-निर्देशों से प्रवृति मूलक एवं निवृति मूलक या अपार्थिव मूल्यों का द्वंद्व का पूर्वाभास उस अवसर पर ही मिल जाता है कि जब यवनिका उठने पर अन्धकार में एक ओर तो मुखर होता सुनाई देता है।

"धम्मं शरणं गच्छामि ।
संघं शरणं गच्छामि ।
बुद्धं शरणं गच्छामि ।"

और दूसरी ओर नन्द के राजभवन में सुंदरी का विलास-कथा प्रकाश की किरणों से उद्‌भासित हो उठता है। यद्यपि इस प्रकार का दृश्य-विधान नाटककार ने अब तक के अन्तिम संस्करणा में कुछ परिवर्तित कर दिय है, पर मूल में यह बात विद्यमान थी। अन्धकार में गूजते स्वर वास्तव में द्वंद्वग्रस्त चेतना में विद्यमान निराशा के क्षणों में भावी आशा का प्रतीक है। जब कि सुंदरी के कथा में उद्‌भासित प्रकाश क्षणिकता एवं भौतिकता की चमक-दमक का प्रतीक। इस प्रकार की समग्रत प्रतीकात्मकता श्वेतांग प्रसंग में तो है ही सहीं, उसके ज्वर-ग्रस्त प्रलाप में तो विशेषतया विद्यमान है, जो अन्त तक विद्यमान रहता है। उसका डोरियों में उलझी पतियें को सुलझाने का प्रयत्न भी प्रतीक हैं दूसरी ओर वह कहता है --- ''देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है, न कुछ विखरता है।'' यहाँ भी वास्तव में प्रतीकात्मक प्रयोग ही है, किन्तु इतना दुरूह कि अच्छा भला दर्शक भी ठीक प्रकार से गहराई तक नहीं पहुंच सकता।

नाटककार ने प्रतीक रूप में ही नाटक में सभी -पुरूष के संबंधों की भी चर्चा की है। उनकी आधारभूत प्रवृतियों के संबंध में भी अपना मन्तव्य अभिव्यक्त किया है। लगता है कि नाटककार का सांकेतिक मन्तव्य यह है कि स्त्री पुरूष की समग्र चेतना को अपने से - भौतिक मूल्यों से - अन्तः स्थूल किये रखने की प्रवृति रखती है। दूसरी ओर पुरूष की अन्तश्चेतना नारी के आकर्षणों के साथ अन्तः स्थूल रह कर भी समस्त बंधनों से मुक्त होने के लिये अभौतिक एवं अलौकिक तत्वों के अनवेषण में मुक्त भाव से अनवरत संलग्न रहता है। वह जीवन में निरंतर भागी जा रही भौतिकता में से ही उन अभौतिक एवं मुक्ति के लिये काम्य तत्वों को पाने के लिये प्रयत्न किए रहता है। नंद की प्रवृतियों एवं क्रियाओं द्वारा स्यात् नाटककार इसी तथ्य का उन्मेष करना चाहता है, किन्तु विद्वान इस तथ्य को जीवन का चरम सत्य स्वीकार नहीं करते। क्योंकि जहाँ तक सत्य का प्रश्न है, प्रवृति एंव निवृति का प्रश्न है- पुरूष नारी में भेद करना उचित नहीं? या तो फिर कबीर के समान घोषित की करना पड़ेगा कि नारी की झाई पड़े अन्धा होत भुजंग' या फिर तुलसी के अनुसार नारी को भी 'ताड़न का अधिकारी' घोषित करना पड़ेगा, परन्तु आज यह सम्भव नहीं। समानता के इस युग में इस प्रकार की धारणा असंगत ही नहीं, बल्कि पाप की सीमा तक वर्ज्य कही जानी चाहिये।

प्रवृति-निवृति की दृष्टि से पुरूष-नारी में भेद नहीं किया जा सकता। यदि सांसारिक भोग काम्य नहीं है, वर्ज्य एवं अवाँछनीय है, तो वे पुरूष नारी दोनों के लिये अकाम्य एवं अवाँछनीय हो सकते है, दोनों के लिये उनका परित्याग अपरिहार्य होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि मानव मन संतुष्ट होना जानता ही नहीं। प्रवृति-निवृति किसी भी स्थिति में उनके लिये सुख नहीं। इसी कारण उसका द्वंद्व ही शाश्वत है नित्य एवं आत्यन्तिक सत्य है। इसी कारण नाटक का काम्य एवं कथ्य द्वंद्व ग्रस्त चेतना का अंकन ही प्रमुख है।

नाटककार ने नाटक में सर्वाधिक प्रतीकात्मकता की सृष्टि श्यामांग को लेकर की है। डॉ. सुरेश अवस्थी के कथनानुसार-''नाटक की वस्तु-योजना और उसके संबंध में श्यामांग प्रसंग का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह प्रसंग कई प्रकार से और कई स्तरों पर नाटककार की मुख्य कथा और उसके मूल संघर्ष से जुड़ा है।'' यह जुड़ाव मुख्यतः प्रतीकात्मक है। पर नाटक के अध्ययन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रसंग योजना के संबंध में नाटककार अन्त तक दुविधा से छुटकारा नहीं पा सका। इस तथ्य की पुष्टि नाटककार की 'नाटक का यह परिवर्तित रूप ' शीर्षक में की गई इस स्वीकारोक्ति से भी हो जाती है। कि - '' पहले अंक से उसे हटाना चाहा तो हटा नहीं सका।'' दूसरे अंक में उसके लिये स्थान बनाना चाहा तो वह भी नहीं बना सका।'' इसी का यह परिणाम है कि पहले अंक के बाद श्यामांग हमें रंगमंच पर दिखाई नहीं देता । हॉ, नेपथ्य से उसका ज्वरोन्माद ग्रस्त -सा प्रलाप मात्र ही सुन पड़ता है। उसका यह नेपथ्य-संभाषण पूर्णतः प्रतीकात्मक हो गया है इस संबंध में भूमिका में डॉ. सुरेश अवस्थी लिखते है:

" आरंभ में लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यंत सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुंदरी और नंद के उद्दाम मुखर और काम सक्ति प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्टा करता है। और फिर बाद में यही श्यामांग नन्द के अस्थिर और द्वंद्व जर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है, और अपने ज्वर प्रलाप में जैसे नंद की ही अनिश्चितता, बिभ्रम और अकुलाहट को ध्वनित करता है। "

यह प्रति-ध्वनि निश्चय ही एक सबल प्रतीक योजना है। इसी प्रकार श्यामांग की कमल ताल में पड़ी (गौतम बुद्ध) छाया से डरना नंद का बुद्ध के प्रभाव से डरने का ही प्रतीक है। इसी प्रकार दूसरे अंक में श्यामांग का ज्वर प्रलाप उसकी व्याकुलता को रूपायित नहीं करता, बल्कि नंद की उद्विग्नता का ही द्योतक है। तभी तो नंद थका-माँदा होने पर भी रात भर सो नहीं पाता। डॉ. अवस्थी के अनुसार - " और तब ऐसा लगता है, जैसे कि नंद ही रंगमंच पर अनिद्रा में अशान्त बैठा है, और नंद ही नेपथ्य में प्रलाप कर रहा है: कोई स्वर नहीं है ··· कोई कारण नहीं है ··· एक छाया है .... अन्धेरे कूप में भटकती हुई छाया।' ···" हमारे विचार मे यह प्रतीक योजना सबसे सबल तो है ही, स्पष्ट भी है। प्रभाव की दृष्टि से भी यह स्थल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। द्वंद्व का उफान भी यहीं देखा जा सकता है। क्योंकि श्यामांग आद्यन्त मानसिक उलझाव का प्रतीक बना रहता है। इसी कारण सुंदरी इस व्यक्ति को निहार अव्यस्त सी हो उठती है और एक बार तो उसको तहखाने में डाल देने की आज्ञा दे देती है। क्योंकि उसे श्यामांग के प्रत्येक कार्य में अवचेतन रूप में नन्द की द्वंद्वग्रस्त चेतना का आभास मिलता रहता है। दूसरे अंक में श्यामांग का प्रलाप सुनकर नंद एकाएक कह भी उठता है- "कितनी लम्बी है यह राज जैसे कि इसे बीतना ही न हो। बार-बार लगता है यह स्वर रात भर पहरा दे रहा है ··· यही इसे बीतने नहीं देता।" और फिर उसे सुनाई देता है:

'स्वर नहीं है ··· कोई स्वर नहीं है ··· इस अन्ध कूप में सब कुछ खो गया है ··· मेरा स्वर ··· पानी की लहरों का स्वर ··· सब कुछ एक आवर्त में धूम रहा है ··· एक चील सब कुछ झपट कर लिये जा रही है ··· इस रोको ··· इसे रोकों ···।"

यहाँ प्रयुक्त अन्धकूप' और 'चील' जैसे प्रतीकों द्वारा नंद के द्वंद्व को ही मुखर किया गया है। उसी प्रकार श्यामांग द्वारा कमल ताल के राजहंसों पर पत्थर फेंकना नंद के अवचेतना में बुद्ध के प्रभाव एवं आकर्षक का ही द्योतक है। वह स्पष्टत: लगता है कि प्रवृति मार्ग से विमुख होकर निवृति मार्ग की ओर उन्मुख हाना चाहता है। कमल ताल के हंसों का यह प्रसंग तीसरे अंक में भी विद्यमान है। वहाँ उनके उड़ जाने से सुंदरी को चिन्तित एवं व्यग्र दिखाया गया है। प्रतीकात्मक रूप से वह चिन्ता और व्यग्रता नंद के गृहत्याग की ही चिन्ता हे। नंद के बुद्ध की शरण में चले जाने की बाद की स्थिति का ही अंकन है। जब सुंदरी हंसो के उड़ जाने पर यह कहती है कि "क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कही चले जाते?" प्रतीकात्मक रूप से वह अपने यौवन का गर्व और नंद की दुर्बलता का ही चित्रण करत है और फिर जब वह कहती है कि - "जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण ··· क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?" स्पष्टत: नंद की मोह ग्रस्तता का प्रतीक है। पर मानव की चेतना कई बार आहत होकर किसी स्थिति से छुटकारा भी तो चाहती है, यह बात नंद के संदर्भ में - अलका के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि - "संभव है आहत होना ही कारण रहा हो उनके उड़कर चले जाने का ···। यह आहत होना वास्तव में द्वंद्वग्रस्त चेतना का ही आहत होना है। यह कथन नाटकीय वस्तु-योजना के उस उपसंहार की स्थिति का भी द्योतक है कि जब नंद रूप-गर्विता संदरी के समस्त बंधनों को तुड़वाकर बुद्ध की शरण में फिर कभी वापिस न आने के लिये चला जाता है।

नाटक में हिरण का प्रसंग भी प्रतीकात्मक है। नंद आखेट में हिरण की घायल कर, उसके आहत होकर गिर पड़ने पर भी उसे छोड़ आता है। उस दृश्य की स्थिति उसके मन में तीसरे अंक तक बनी रहती है। एक स्थान पर वह कहता भी है- ''वहाँ पर पड़ा हुआ वह कल कैसा लग रहा था। और न जाने क्यों इस समय प्रभात का फीका चाँद भी मुझे कुछ वैसा ही लगा ··· कोमल, अक्षत और निर्जीव।'' उसी अनुभूति से ग्रस्त नंद आखेट से लौट कर उतनी शारीरिक थकान अनुभव नहीं करता जितनी कि मन की । यहाँ प्रतीकात्मक रूप से हम कह सकते हैं कि नंद में मन में बुद्ध के अहिंसात्मक भाव मूल रूप से विद्यमान है और वे धीरे-धीरे किन्तु प्रबलता से प्रबुद्ध हो रहे है। दूसरे आखेट से लौटने पर उसकी मानसिक थकान वास्तव में आखेट और भातिक कार्यो से थकान का संकेत है। आहत होकर भी मृग का जीवित रह पाने के लिये संघर्ष और मृत्यु की अन्विति-उसका संबंध नंद और सुंदरी समेत सभी के साथ है। इस प्रकार के प्रतीकों की योजना में नाटककार स्पष्टत: बुद्ध बनने तक की परिणति को ही यहाँ सांकेतिक रूप से प्रतिफलित किया है।

दर्पण का खण्डित होना इस अर्थ में प्रतीक प्रयोग है कि यहाँ नाटककार ने नंद की चेतना को स्पष्टत: दो खण्डों में विभाजित कर दिया, पर वे दोनों खण्ड समाकार नहीं है, बल्कि खण्डित होने के कारण आड़े-टेढ़े है। पर इतना इस प्रयोग से निश्चित संकेत मिल जाता है कि एक ओर तो सुंदरी रूप-यौवन का गर्व खण्डित हो जाता है और भविष्य में उसका विश्वास भंग करके नंद जो बौद्ध बनने जा रहा है, उसका आभास भी मिल जाता है। इसी कारण खण्डित दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर वह कहती है- ''जाने कैसा-सा लगता है ··· अपना टूटा हुआ प्रतिबिम्ब देख कर ··· यह दो भागों में बँटा हुआ सीमाँत, खण्डित मस्तक, खण्डित चेहरा, खण्डितं ··।'' उससे भी पहले वह दर्पण प्रसंग में ही नंद की अस्थिर मन:गति की ओर इंगित करते हुए कहती है- ''देखिये, दर्पण हिल गया। आप कुछ देर स्थिर खड़े नहीं रह सकते?'' इसी प्रकार खण्डित दर्पण में अपने कर्तित केशों वाले स्वरूप को निहार कर नंद भी कहता है:

''उन्होने केश कटवा दिये, तो व्यक्ति रूप में मैं अधिक सत्य हो गया? जिंह्वा कटवा देते, हाथ कटवा देते, हाथ-पैर कटवा देते, तो और अधिक सत्य हो आता?''

स्पष्ट है कि दर्पण का सांकेतिक प्रयोग भी मनोद्वंद्व एवं भावाभिव्यक्ति में विशेष सहायक प्रमाणित हुआ है।

नंद के केश-कर्तन के बाद जंगल और राज-भवन भिक्षु आनंद नंद के साथ छाया के समान लगा रहता है। श्यामांग ने जल में जो छाया देखी थी वह यहाँ बुद्ध के प्रतिनिधि आनंद के रूप में स्पष्टत: उजागर हो उठती है नंद की चेतना में जो द्वंद्व था, यह प्रयोग उसे और अधिक प्रखर क़रने वाला प्रमाणित होता है, निर्णायक मोड़ प्रदान करता है । क्योंकि नंद चाहकर भी, हटकर भी उस छाया से पीछा नहीं छुड़ा पाता और उन्मुख हो जाता है।

प्रतीक - प्रयोग की दृष्टि के केश-कर्तन के बाद नंद का जंगल में जाकर व्याघ्र से द्वंद्व करना दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक यहाँ नंद के क्षत्रियत्व की प्रतिक्रिया को रूपायित किया गया है। इस प्रकार वह अंत में एक बार फिर प्रवृति-मार्ग की ओर मुड़ने का सबल प्रयत्न करता है, किन्तु मात्र घातक होकर रह जाता है, वापिस मुड़ नहीं पाता। दूसरी ओर नंद के मन और शरीर में विद्यमान आक्रामक वृतियों का भी इस प्रयोग द्वारा एक प्रकार से अन्तिम रूप से परिहार हो जाता है। एक अन्य दृष्टि से भी इस प्रतीकात्मक प्रयोग पर विचार किया जा सकता है। वह है अंतर्द्वन्द्व के बाद केश-कर्तन के रूप में जो कुछ भी घटित हुआ है, उसके प्रति विद्रोह का भाव अभिव्यक्त करना। क्योंकि नंद के केश कटते समय तो अपने बड़े और त्यागी भाई के सामने विद्रूप होकर तभी उसके सम्मान की खातिर मौन होकर

रह गया था । वह कहना चाह कर भी यह न कह सका था- '' यह विश्वास मेरा नहीं है, मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़ कर नहीं जा सकतां ''जीना नहीं चाहता। अत: उस रूप में वह अंक ही बात कह लेता है। प्रवृत्यात्मकता ही यहाँ स्पष्टत: मुखर हो पाई है।

इस विवेचन के बाद निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'लहरो के राजहंस' नाटक में अनेक प्रकार के प्रतीकात्मक प्रयोग हुये है सामान्यतया सभी प्रतीक पूर्णतया संगत एवं साभिप्राय है। कुछ प्रतीक दुर्बोध्य से भी प्रतीत होते हैं, जैसे-श्यामांग की प्रसंग कथा का प्रयोग, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दुर्बोध्य प्रतीत होते हुए भी यह प्रयोग सर्वाधिक सफल है। अन्तर्द्वन्द्व को मुखरता इसी से मिल पाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसे हम सर्वथा मौलिक एवं नव्य प्रयोग कह सकते हे। फिर भी इतना तो स्वीकारना ही होगा कि जनसामान्य की दृष्टि से इस प्रयोग को सुगम भी नहीं कहा जा सकता। हॉ, शेष सभी सॉकेतिक या प्रतीकात्मक प्रयोग सहज गम्य है। उन्हे प्रत्येक व्यक्ति अर्थवेता एवं व्यंजना के रूप में सरलता से ग्रहण कर लेता है। अत: हम सामान्यतया सभी प्रतीकात्मक प्रयोगों को सफल एवं सार्थक ही कहेगें।

40.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के प्रतीकात्मकता पर टिप्पणी कीजिए।
2. प्रतीकात्मकता के दृष्टि लहरों के राजहंस का मूल्यांकन कीजिए।

लहरों का राजहंस - सामयिक चेतना

पाठ-संरचना

41.0 उद्देश्य
41.1 परिचय
41.2 लहरों के राजहंसी : सामयिक चेतना
41.3 अभ्यास के प्रश्न

41.0 उद्देश्य

साहित्यिक गुणवत्ता और उत्कृष्ट अभिनेयता दोनों दृष्टियों से उच्चकोटि के नाटक लिखने में मोहन राकेश का योगदान अत्यंत उल्लेखनीय है। उन्होने अपने नाटकों में बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में व्यक्ति के निजी संबंधों, स्त्री-पुरूष के रिश्तों की विडम्बना को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस के सामयिक चेतना से पाठकों को परिचय कराना है।

40.1 परिचय

'लहरों के राजहंस' में राग विराग और श्रेय प्रेय के द्वंद्व को उभारकर चिरंतन आध्यात्मिक प्रश्न को नये संदर्भ में उठाया गया है। इसका कथानक अश्वघोष के सौंदरानंद पर आधारित है। नाटकीय संघर्ष की स्थितियाँ दो व्यक्तियों और दो विरोधी जीवन दर्शन की टकराहट से उत्पन्न होती है। यह चिरंतन द्वंद्व ही नंद को आधुनिक मनुष्य के त्रासदी के निकट ले आता है।

जहाँ तक परिणति का प्रश्न है, सुंदरी और गौतम बुद्ध विश्वास, आस्था और प्रतिबद्धता के अपने-अपने राजमार्गो से और नंद संशय, अनास्था और अप्रतिबद्धता की अपनी छोटी सी पगडंडी से एक ही स्थान पर पहुँचते हैं- यानी कभी नहीं पहुँचते। हर रास्ता सिर्फ एक तलाश है, कभी न समाप्त होनेवाली एक लम्बी यात्रा। तीनों मुख्य पात्रों का अलग-अलग मार्गो से इसी अनिश्चयपूर्ण बिन्दु पर पहुँचना भी अपने आप में कम बिडंबना पूर्ण नहीं है। नामकरण से लकर चरित्र-सृष्टि, कथा-अभिप्राय, दृश्यांकन, संवाद योजना और मूल संवेदना सभी प्रतीकात्मक है।

41.2 "लहरो के राजहंस" : सामयिक चेतना

'लहरों के राजहंस का बाहा परिवेश ऐतिहासिक हैं दृश्य-कथा का विस्तार भी ऐतिहासिक परिवेश में ही हुआ है। मुख्य पात्र भी ऐतिहासिक और उन से संबंधित प्रमुख घटनायें एवं उनके घटित होने के स्थान भी ऐतिहासिक हैं

किन्तु नाटक का मूल तथ्य जितना ऐतिहासिक है, उससे कहीं अधिक आधुनिक युग-बोध एवं सामयिक चेतनाओं को अपने अन्तराल में संजोये हुए है। क्योंकि यह संभव नहीं होता कि कोई जागरूक कलाकार अतीत की घाटियों में विचरते हुए भी अपने सामयिक परिवेश के कट जाये। वह अतीत की घाटियों में भी, वास्तव में युग-बोध एवं सामयिक समस्याओं के उद्‌बोधन एवं समाधान खोजने का प्रयत्न करता है। यही प्रयत्न एवं तत्त्व मूलतः समग्र साहित्य एवं समान्यतः किसी विशिष्ट साहित्यिक सर्जना को शाश्वतता प्रदान करता है इसी कारण इस नाटक में अस्थिर मति नंद के हाथ में अन्ततोगत्वा भिक्षा-पात्र थमा दिया जाना अस्थिर-चित-गति वालो की एक शाश्वत परिणति ही है। इसी अर्थ में हम 'लहरो के राजहंस' नाटक में से सामयिक चेतनाओं का अन्क्षेषण एवं संचयन कर सकते है। ऐतिहासिक परिवेश में आधुनिक आयामक को बॉधने का प्रयत्न इसी संदर्भ में सार्थक है अथवा हो सकता है।

नाटक के मूल तथ्य के संबंध में अपने विचार प्रगट करते हुए 'भूमिका' की नितांत आरम्भिक पंक्तियों में डॉ० सुरेश अवस्थी लिखते है - ''लहरों के राजहंस'' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वंद्व निहित है।'' और हमारे विचार में यह द्वंद्व तभी से विद्यमान है, जब से संस्कृति के विकास के साथ-साथ व्यापक अर्थो में मानव की चेतना का भी विकास होना आरंभ हुआ है। द्वंद्व के उस अन्य पक्ष की ओर इंगति करते हुए डॉ. सुरेश अवस्थी आगे लिखते है - ''इस द्वंद्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष पारस्परिक संबधों का अन्तर्विरोध है।'' हमारे विचार में यह अन्तर्विरोध भी उतना ही पुरातन है जितना की आधुनिक या सामयिक अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते है- ''जीवन के प्रेय और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है जिसके कारण के लिए चुनाव कठिन हो जाता है और उसे चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र -बिन्दु है। धर्मिक-भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव-बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है।''

उक्त संदर्भ में हमारा यह कथन है कि द्वंद्व एवं तद्‌जन्य छपटाहट, श्रेय और प्रेय के बीच में एक कृत्रिम एवं आरोपित विरोध, स्त्री पुरूष के पारस्परिक संबंधों में अन्तर्विरोध, सांसारिक सुखों तथा आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध, इनमें चुनाव कर सकने की असमर्थता या चंचलता का प्रश्नप, निर्णय लेने का अन्तद्वंद्व आदि सब बातें नित्य एवं चिरन्तन है। इन्हें आधुनिक इस कारण ही अधिक कहा जाता है कि पहले का जीवन आज के समान अत्यधिक जटिल नहीं था, आज के समान इच्छाओं -आकांक्षाओं का उत्कट उन्मेष नहीं था, जो कुछ भी था आज के समान स्पष्ट नहीं था, जबकि आज के वैषम्यपूर्ण परिप्रेक्ष्य में यह सब अधिक उत्कट रूप से उभर कर नैमितिक जीवन की एक प्रमुख समस्या बन गया है। इसी कारण आज का साहित्य ओर मोहन राकेश का प्रस्तुत नाटक भी, इन्हीं द्वंद्वमयी स्थितियों का संबाहक अधिक होकर रह गया है। उसमें पहले के समान रागात्मक एवं करूणाविल आत्मिक तत्वों में कमशः क्षीणता आ गई है। 'लहरों के राजहंस' भी इसी प्रकार सामयिक चेतनाओं का उन्मेष करवाने में सफल हो सका है।

यह एक शाश्वत तथ्य है कि नाटक या इस प्रकार की कोई भी विधात्मक सर्जना युग-चेतनाओं को संवहन करने में समर्थ होने पर ही जीवित रहती है। इसी कारण किसी भी युग का प्रत्येक साहित्यकार सामयिक चेतनाओं के प्रति अवश्य सजगता बरतता है। मोहन राकेश भी अपने पूर्ववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के समान 'लहरो के राजहंस' में पूर्णतः सजग है। इसमें उन्होने अतीत चित्रण के माध्यम से अपने युग-परिप्रेक्ष्य के प्रश्नों एवं कठिनताओं

का समाधान प्रस्तुत किया है 'लहरों के राजहंस' के अपने वक्तव्य में 'अषाढ़ का एक दिन' के संदर्भ में राकेश लिखते है:

'अषाढ़ का एक दिन' में कालिदास को जैसा भी चरित्र है, वह उसकी रचनाओं में समाहित उसके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है: हाँ आधुनिक प्रतीक के निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। वह इसलिये कि कालिदास मेरे लिये एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक का वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बता यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है। हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं। हो सकता है कि कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिये इससे अच्छा दूसरा नाम, दूसरा व्यक्ति, मुझे नहीं मिला।''

हमें आशा करनी चाहिये कि अपने किसी अगले नाटक में जब मोहन राकेश 'लहरों के राजहंस' पर किये गये आक्षेपों के संदर्भ में भूमिका रूप में अपना वक्तव्य प्रकांशित करेंगे, तो वहाँ भी 'नहरों के राजहंस' और उसके नंद के संबंध में उनका वक्तव्य इसी उपरोक्त प्रकार का ही होगा जैसे-''लहरो के राजहंस'' में नन्द का जैसा भी चरित्र है, वह उसके संबंध में उपलब्ध सामग्रियों एवं किम्वदन्तियों से बहुत भिन्न नहीं है: हॉ आधुनिक प्रतीक के निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। वह इस लिये कि नंद मेरे लिये एक व्यक्ति नहीं, हमारी संरचनात्मक शक्तियों में विद्यमान द्वंद्वग्रस्त चेतनाओं का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिये है जो किसी भी काल मं द्वंद्वग्रस्त प्रतिभा को व्यक्तित्व को आन्दोलित करता है। व्यक्ति नंद को उस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा। हम भी आज उसमें से गुजर रहे है। हो सकता है व्यक्ति नन्द का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की द्वन्द्वग्रस्त चेतना के लिये इससे अच्छा दूसरा नाम, दूसरा संकेत मुझे नहीं मिला।'' इसी संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में ही मानव के शाश्वत अन्तर्द्वन्द्व का सामयिक चेतना के रूप में 'लहरों के राजहंस' सशक्त चित्रण हुआ है।

'लहरों के राजहंस' में सामयिक चेतनाओं का ही मुख्यत: चित्रण हुआ है। सामयिक मानव के अन्तर्द्वन्द्व को ही रूप एवं आकार प्रदान करने का सतत प्रयत्न हुआ है।- इस संबध में भी नाटककार की स्पष्ट आत्म-स्वीकृति दर्शनीय है:

यहाँ नंद और सुंदरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'अषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है।

स्पष्टत: मोहन राकेश यहाँ परम्परा से हटकर विवेक सम्मत आधुनिक तथ्यों को ही इतिहास में परिक्षेपित करते हुए दिखाई देते हैं। वे स्वीकार करते है कि इतिहास मात्र साधन है, साध्य नहीं, गन्तव्य नहीं। उसका उपयोग एवं प्रयोग तो उन्होने मात्र अपने मूल कथ्य एवं गन्तव्य को परिपुष्ट, सजीव तथा सार्थक बनाने के लिये ही किया है। इससे इनकी कथा में प्रभविष्णुता एवं सृजनात्मकता भी परिवर्द्धित हो गई है। प्रभाव एवं युगीन सार्थकता के लिये ही उन्होने नाटकीय घटना-व्यापारों की आने अनुरूप सर्जना एवं कल्पना की है। ऐतिहासिक पात्रों एवं उनके चारित्रिक संदर्भो को आधुनिकता के प्रवृत्यात्मक प्रतीक के रूप में कुशलता के साथ अन्त:स्यूत किया हैं मुख्य पात्रों की जिस द्वंद्वग्रस्त अन्त:चेतना को यहाँ रूपायित किया गया है, उसका सीधा और स्पष्ट संबंध युगीन उलझे व्यक्तित्वों से भी है। अन्तर

इतना ही है कि नाटक का नंद तो अन्ततोगत्वा एक निश्चित पथ पर-विवशता से ही सही-बढ़ने में सफल नहीं हो पाया। नाटक में नंद और सुंदरी दोनों की अन्तश्चेतना अपनी नियति की खोज में तड़पड़ाती दिखाई देती है। उसे हम आधुनिक-बल्कि अत्याधुनिक नर-नारी की तडप्, खोज, और आकुलता का ही प्रत्यक्ष पक्ष है।

यह ठीक है कि नाटक में नंद एवं सुंदरी में प्रत्यक्षत: पारस्परिक संशय का भाव नहीं दिखाया गया, पर परोक्षत: तो वहाँ भी उसी प्रकार का पारस्परिक संशय-भाव अंगड़ाईयाँ लेता हुआ देखा जा सकता है कि जैसे आज के नारी -नर के मध्य विद्यमान है। यह अलक्षित संशय-भाव सुंदरी के इस कथन में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता हैं:

''''' कि आप कभी सचमुच मुझ से रूष्ट हो जाएं, दो एक राते मेरे कक्ष में न आयें, तो कैसा लगेगा?'' उसी प्रकार दर्पण टूट जाने के बाद सुंदरी के मन में संशय का यही अलक्षित भाव एकाएक फिर अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा होता है-''जानना चाहती हूँ कि क्या दर्पण का टूटना सचमुच अकारण ही था ''' या उस समय आप कोई और बात सोच रहे थे?'' क्या वह संशयालु स्वभाव एवं वृत्ति आज भी विद्यमान नहीं है ? निश्चय ही आज के नर-नारी के मन में पारस्परिक संशय का यह भाव अपने चरम रूप में विद्यमान है। अन्तर यह है कि पुरूष नंद के समान उसे छुपा जाना जानता है, जब कि नारी सुंदरी के समान मुँहफट बनकर कह देना। नारी-स्वातन्त्रय की भावना एवं आन्दोलन की यह कैसी असमर्थतापूर्ण परिणति है।

'लहरों के राजहंस' के अन्तिम पृष्ठों में हम देखते है कि सुंदरी तथा नंद समानान्तर पर खड़े होकर भी स्पष्टत: अपनी बात परस्पर अभिव्यक्त नहीं कर पाते। आधुनिक नारी - पुरूष में भी इस प्रकार की अक्षमता क्या विद्यमान नहीं है ? निश्चय ही आज के नारी-पुरूष अत्यधिक समीप रहते हुए भी प्रश्नवाचक चिंह की गुलझट ही बने रहते हैं। उनकी द्वन्द्वग्रस्त चेतना परस्पर कभी स्पष्ट नहीं हो पाती और इसी प्रकार जीवन कट जाता है। इसी कारण तो आज के गृहस्थ भीतर ही भीतर उबलते लावे बनें हुए हैं, विक्षोभ, अशान्ति एंव असंतोष के अप्रत्यक्ष अखाड़े बने हुए हैं। नाटककार मोहन राकेश को अपने व्यक्तिगत जीवन में इस प्रकार की स्थितियों को ओढ़ना ओर भोगना पड़ा है। अत: उनकी प्रन्तश्चेतना का यह द्वंद्वग्रस्त स्वरूप यदि नंद एवं सुंदरी के माध्यम से अलक्षित अभिव्यक्ति पर गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो साहित्य है ही अंत: विक्षोभों एवं असफलताओं का उदातीकृति स्वरूप, जो प्रत्यक्षत: अभिव्यक्त नहीं हो पाता उसकी अभिव्यक्ति का एक सबल माध्यम। ऐसी स्थितियों में जीवन के सहज प्रभाव में अटकाव अनिवार्य हो जाता है। सामयिक नर-नारी की चेतना के सामने भी इसी प्रकार का गत्यवरोध एंव दिशा -हीनता का क्षण समुपस्थित है। नारी सुंदरी के माध्यम और पुरूष नंद के माध्यम से परस्पर विश्वास एवं सहज आत्मीयता को खोज पाने के लिये केवल प्रयत्नशील ही नहीं, बल्कि आकुल है। गत्यवरोधों एवं भटकाव की स्थितियों में किसी 'सत्य' जो मात्र सम्भावित न होकर तथ्यगत हो अन्वेषण करने से प्रतीत होते है। दूसरी ओर एक दूसरे के बिना भी सूना ही लगता है:

'वहाँ वह सूना कमल ताल ''' यहाँ कक्ष का यह सूनापन ''' लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा '''

पर यह सूनापन प्रतीक भी भौतिक ही अधिक है। स्याात् उसमें सहज आत्मीयता का भाव नहीं। चेहरे और उस पर खड़े हुए भौतिक आवरण का ही अधिक महत्व है -- महत्व है केशों का -- वास्तविक चेहरों का नहीं। तभी तो नाटककार ने नंद की बात श्वेतांग के मुख से इन शब्दों में रूपायित कराई है:

उन्होने कहा कि ''' वे अपने केशों की खोज में जा रहे है। जाकर तथागत से पूछना चाहते है कि उन्होंने उसके केशों का क्या किया? और यदि कुछ नहीं किया, तो क्या उनके केश उन्हें लौटाये जा सकते हैं? उसकी पत्नी

को उनके केशों की आवश्यकता है--। '' क्योंकि सुंदरी के सूखे विशेषक को गीला करते समय नंद के गड-मण्ड चेहरे को निहार कर सुंदरी डरकर चीख उठी थी, उसी की यह प्रतिक्रिया है -- और यह विशुद्ध भौतिक है, आत्मीयतापूर्ण नहीं! यह सुनकर सुंदरी का टूटा अहं कह उठता है- ''उतना ही तो समझ पाते है!'' स्पष्ट है कि अत्यधिक समीप रहते हुए भी नंद और सुंदरी यानि सभी पुरूष परस्पर उच्च धारणाएं हार्दिक धारणाएं नहीं बना पाते। पुरूष समझता है कि नारी उसके रूप यौवन सौन्दर्य एवं सम्पति की ही कांक्षिणी है, उस दृष्टि से पुरूष नारी के प्रति सत्य मन से उच्च धारणा कभी नहीं बन पाता। वह बाह्यआकर्षण की आसक्ति को ही नारी पुरूष के संबंधों का मूलाधार मानता है। उधर नारी भी कई बार पुरूष की सामान्य भावनाओं एवं हार्दिक मान्यताओं को समझ पाने में असमर्थ होकर उसे अपने रूप-जाल में ही बाँधे रखने का प्रयत्न करती है। इस दृष्टि से वह स्वयं भोग्या ही बनी रहना चाहती है। सुंदरी की यह उक्ति इसी चेतना का ही - मिथ्या भ्रान्ति का ही परिणाम है:

''नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

इतना ही नहीं, नारी विलास सामग्री को सब कुछ मान बैठती है। तभी तो दूर से कमलताल के हंसों और बाहिर से बौद्धों के स्वरों को सुनकर सुंदरी अपने हृदय में कहने लगती है।

''कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमल ताल के पास आकर उनसे वे निवार्ण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेगें, फिर काम्पती हुई लहरें जिधर ले जायेगी, उधर तैर जाएंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी पर जाकर उपदेश देने का नहीं होगा।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि नर-नारी दोनों भ्रान्त हैं। अपनी मनः भ्रान्तियों में वे एक दूसरे को समझ पाने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो रहे हैं। प्रवृत्ति दोनों ओर, पार्थिव अपवर्थिव दोनों दृष्टियों से पुरूष-नारी को सामान्यतः यही शिकवा-शिकायत है, इससे निस्तार भी तो नहीं ।

नाटक का मूल द्वंद्व आधुनिक इस दृष्टि से भी है कि नाटक के अन्त में नाटककार ने नर-नारी दोनों की चेतना को दोनों की नियति को अलगाव की भटकती धारा में मोहित दिखाया है। अंत-द्वंद्व ही नंद सुंदरी दोनों को अनिच्छित रूप से भी अलग कर देता है। यह अलगाव आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अस्वाभाविक भी नहीं है। क्योंकि हम अपने आस-पास सभी पुरूष के संबंधों की यह नियति प्रायः देखते ही रहते है। फिर नाटककार तो इन स्थितियों का भुक्त भोगी है। यह भटकाव एवं अलगाव उसका भोगा हुआ स्पष्ट तथ्य है। मनः द्वन्द्वों के अन्तःसंघर्षो की चरम परिणति है। इस अर्थ में 'लहरों के राजहंस' की सामयिक चेतना या आधुनिक युग बोध अत्यधिक प्रबल एवं तर्क संगत कहा जायेगा।

'लहरों के राजहंस' की सामयिक चेतना पर एक अन्य प्रसंग की प्रतीक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। नंद सुंदरी के कक्ष में उसका प्रसाधन करने के लिये प्रयत्नशील होता है। बाहिर सौ बौद्धों का उद्घोष सुनाई देता है- कई बार सुनाई देता है, परंतु उधर कोई घ्यान न देकर नंद सुंदरी के शृंगार प्रसाधन में अविरत निरत रहता है। कुछ क्षण बाद- बौद्ध उद्घोष समाप्त हो जाने के अनन्तर जब अलका से नंद को पता चलता है कि स्वयं तथागत द्वार से भिक्षा के लिये आकर खाली लौट गये, तो इस आचरण पर नंद का मन क्षुब्ध एवं आकुल हो उठता है। वे उन (तथागत) से क्षमा याचना करने के लिये जाना चाहता है। वह कहता है- '' सोचना हे कि जाना हो, तो ''' सुदरी बीच में ही काटकर कहती है-- ''इसी समय जाना चाहिये, यही न? वह विवशता नहीं रहेगी -- मैं अपनी ओर से आपको वचन मुक्त कर रही हूँ।'' वचन से यह मुक्ति अलक्षित रूप से कहीं सर्वथा मुक्ति का ही तो संकेत नहीं है

यहाँ? क्या यहाँ यह संकेत तो अन्तर्हित नहीं है कि आज की नारी उस पुरूष को अपने समस्त प्रत्यक्ष बन्धनों से मुक्त करना चाहती है, जो एकाग्र भाव से उसका होकर नहीं रह पाता, जो घर में रहकर भी चेतना की दृष्टि से सदा सर्वदा बाहिर ही रहता है-- गौतम बुद्ध की ओर -- रहता है। क्या उसे संघ के लिये चले जाने देता ही उचित नहीं? स्पष्ट यहाँ नारी-पुरूष के संबंधों के इस मोड़ पर सामयिक चेतना का ही संकेत -चित्रण हुआ है।

इस प्रकार नाटक में सामयिक चेतना से संबंधित अनेक संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य अंत:स्यूत है। दोष वास्तव में आधुनिक या किसी भी युग के नर-नारी का नहीं होता, बल्कि उन व्यवस्थाओं का हुआ करता हैं जो अनेक प्रकार से मानव के स्वच्छन्द चेतना को जकड़कर रखना चाहती है। यह जकड़ाव किसी भी युग में जितना अधिक कसता जाता है, बाह्य रूप से उसमें निरंतर जितना अधिक कसाव आता जाता है, उतनी ही तीव्र गति से उसके परम्परागत विचार एवं बुद्ध-मूल धाराणाएँ कमश: स्वचयं ही आहत या हत्चेत होकर खण्डित होती जाती है। उस खण्डित अलगाव को यदि पुनर्बद्ध करने का प्रयत्न भी किया जाता है तो उसमें स्वाभाविकता नहीं आ पाती। सीवन के धागों को चिन्हों के समान वह लक्षित होता ही रहता है। अत: क्यों न अलगाव को प्रश्रय दिया जाये? क्यों न खण्डित व्यक्तियों की बोझिलता के परिहार के लिये इच्छित विभिन्न दिशाओं की ओर बढने दिया जाये--?-- अनेक प्रश्न है जिनका कोई समाधान नाटककार ने नहीं किया। प्रत्यक्ष जीवन के समान नाटक में भी ये सारे प्रश्न प्राय: अनुत्तरित ही है। वहाँ उत्तर एवं समाधान की एक प्रकिया अवश्य चित्रित कर दी गई है।

'लहरों के राजहंस' के नाटककार ने आधुनिक मानव-मूल्यों के आन्तरिक रूप से विघटन की प्रकिया में पड़े रूप एवं द्वंद्व को ही साकार करने की प्रकिया यहाँ अपनाई है। समस्या नाटकों के समान कोई समाहार या समाधान प्रस्तुत न करना या न कर पाना इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे आज मानव चेतना के द्वंद्व के सामने अनेक-प्रकार के उलझन भरे प्रश्न चिन्ह अंकित है या हो रहे हैं, उसी प्रकार नाटक में समाधान की दिशा की ओर मात्र एक लम्बा और प्रश्न चिन्ह ही लटक कर रह गया है। लगता है कि उससे आगे बढ़ाना नाटककार का लक्ष्य भी नहीं है। फिर सत्य तो यह है कि इससे आगे बढ़ पाने की की स्थिति में अपने प्रत्यक्ष जीवन में जीने वाला मानव है भी तो नहीं। जब जीवन में ही कोई उतर नहीं, तो जीवन के यथार्थ का चितेरा नाटककार प्रतारणात्मक उतर कहाँ से गढ़ लाए?

निष्कर्षत: विवेचन से स्पष्ट है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामयिक चेतनाओं एवं युग बोधों का सशक्त रूप से प्रतीक चित्रण हुआ है। अपनी समूची शिल्पगत प्रकिया में भी नाटक आधुनिक ही अधिक है।

41.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के सामयिकता का विश्लेषण कीजिए।
2. सामयिकता की दृष्टि से लहरो के राजहंस की समीक्षा कीजिए।

लहरों का राजहंस : शिल्प-विधान

पाठ-संरचना

42.0 उद्देश्य
42.1 परिचय
42.2 लहरों के राजहंस : शिल्प
42.3 अभ्यास के प्रश्न

42.0 उद्देश्य

'लहरों के राजसहंस' की संवेदना और शिल्प आधुनिक है इसलिए वह एक आधुनिक - केवल समसामयिक नहीं- दर्शक की मांग करता हैं इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस की शिल्प विधान से पाठकों को परिचय कराना है।

42.1 परिचय

मोहन राकेश के सभी नाटक एक आम दर्शक की नहीं एक विशिष्ट दर्शक की अपेक्षा रखते हैं। 'लहरों के राजहंस का मूल संस्कार शहरी हैं इस नाटक का कथ्य भी इस संस्कार के अनुकूल बैठता है। इसमें लोक नाटक सी व्यापकता और सामान्य अपील नहीं है। वैसे स्वयं मोहन राकेश का मूल संस्कार भी शहरी ही था, इसलिए उन्होनें फैशन या किसी अन्य प्रलोभनवश अपने या अपने नाटको पर कोई वाह्य आरोपण स्वीकार नहीं किया। लहरों का राजहंस आधुनिक प्रेक्षक को संबोधित नाटक है। इसलिए इसके पात्रों की बेचैनी छटपटाहट और त्रासदी, इनके अंतर्द्वन्द्व की गहराई और अर्थवत्ता: इनकी तलाश का अर्थ, इनके टकराते और बदलते हुए संबंधों की कसक और टूटन वे सब महसूस कर सकते हैं जो इस सदी के इस आधुनिक दौर को इसकी तमाम असंगतियों विडम्बनाओं और प्रश्नाकुलताओं को अपने रक्त-मांस पर झेल रहें है।

आधुनिक शिल्प पद्धति में रंग योजना एवं संकेतों का भी विशेष महत्व माना जाता है। इस दिशा में भी लहरों के राजहंस के लेखक पूर्णतया सजग एवं सचेत दिखाई देता है।

42.2 'लहरों के राजहंस' : शिल्प-विधान

''लहरों के राजहंस'' नाटक शिल्प-विधान की दृष्टि से परम्परागत भारतीय नाट्य-परम्परा में नही आता। इसकी स्वरूप-सर्जना नितान्त आधुनिक है। काव्य-तत्व एवं साहित्यिकता की दृष्टि से इसे अधिक से अधिक प्रसाद

जी की नाट्य-परम्परा के समीप स्वीकारा जा सकता है। प्रत्यक्षतः इसकी आत्मा आधुनिक और नितान्त आधुनिक है, स्वरूप की समूची योजना तो अत्याधुनिक है ही क्योंकि इसकी सर्जना का मुख्य लक्ष्य भी आधुनिक द्वंद्वग्रस्त चेतना की रूपायित करना ही है। अतः कहा जा सकता है कि मूलतः 'लहरो के राजहंस' आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-पद्धति के आधार पर रचा गया है । इसके समस्त व्यवहार एवं रूढ़ियाँ इसी परम्परा की है। आधुनिक परम्परा के अनुसार ही इसमें द्वंद्वग्रस्त चेतना के प्रश्नों का मात्र उद्घाटित किया गया है, उनका कोई उतर या समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया। दर्शक और पाठक को द्वंद्वग्रस्त चेतना के एक चरम बिन्दु पर ले जाकर छोड़ दिया गया है। उससे आगे उसे अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना है, जो आज की विषय स्थितियों में अधिक सम्भव प्रतीत नहीं होता।

शिल्प विधान की दृष्टि से हम सब पहले इसकी स्वरूप-योजना को लेंगे। इस दृष्टि से वस्तु योजना को तीन अंकों में विभाजित तो किया गया है, परंतु दृश्यबन्ध एक ही है । सारा कथानक एंव तत्संबंधी घटना चक्र एक कही सैट पर घटित होता है: तीन अंकों को आधुनिक शिल्प-विधान की दृष्टि से नाटकीय कथा के तीन संचरण मान सकते है। पहले अंक को प्रथम संचरण या 'आरंभ' कहा जा सकता है। दूसरा अंक प्रथम संचरण 'आरंभ' को द्रुत गति से 'विकास' के पथ पर अग्रसर करता है, अतः 'विकास' द्वितीय संचरण या अवस्था है। तीसरे अंक में वस्तु का मूल तत्व 'चरम बिन्दु' पर पहुँच कर अवस्थि हो जाता है। अतः यह विकास का तृतीय एवं अंतिम संचरण है, जिसे 'चरम बिन्दु' कहा जा सकता है। इस प्रकार एक ही दृश्यबन्ध पर वस्तु विकास के तीन संचरण प्रस्तुत किये गये है, जो आधुनिक शिल्प के सर्वथा अनुकूल हैं।

रंगमंच एवं अभिनय की दृष्टि से आज के नाट्य्-शिल्प में स्थान, समय और कार्य (संकलनत्रय) की एकता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। 'लहरों के राजहंस' में तीन अंको या वस्तु-योजना के तीन संचरणों को एक दी दृश्यबन्ध पर प्रस्तुत करके नाटककार ने 'स्थान-एकता' या 'स्थान-अन्विति' का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया है। क्योंकि आज रंगमंच का जो स्वरूप हमें उपलब्ध है, उस दृष्टि से और यों भी स्वाभाविकता बनाये रखने की दृष्टि से 'स्थान-अन्विति' एक अनिवार्यता है। इस प्रकार नाटकों का प्रदर्शन सीमित रंगमंचीय साधनों से ही प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है। फिर यथार्थवादी नाटय-पद्धति की यह एक शिल्पगत अनिवार्यता भी है। 'लहरों के राजहंस' नंद के भवन में सुंदरी के कक्ष में ही तीनों संचरणों को प्रस्तुत करके नाटककार मोहन राकेश ने इस अनिवार्यता का निर्वाह सूक्ष्म कुशलता से किया है। इस संबंध में डॉ. सुरेश अवस्थी अपनी भूमिका में लिखते है।

''यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति में एक दृश्यबंध और तीन अंकों वाले नाटकों का विकास आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रदर्शन की परिस्थितियों तथा साधनों के कारण हुआ है, और उनके पीछे एक शिल्पगत अनिवार्यता है।'' इस अनिवार्यता का कारण स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते है- ''भारी -भरकम और ठोस पदार्थो से निर्मित यथार्थवादी दृश्यबंध को बदलने की कठिनाई से बचने के लिये ही इस शैली के नाटकों ने अपने लिए एक दृश्यबंध स्वीकार कर लिया है।''

यह शिल्पगत स्वीकृति 'लहरों के राजहंस' में नाटककार मोहन राकेश ने पूर्णतः निभाई है। वस्तु-योजना के स्वरूप-विधान में स्थान तत्व का निभावपूर्ण सजगता के साथ हुआ है। नियमतः एक ही स्थान पर प्रत्येक अंक या संचरण एक उत्कर्ष के बिन्दु पर ही परिसमाप्त होता है। और वहाँ यवनिकापात भी अनिवार्य हो जाता है। उसके बाद तत्काल बिना अधिक विलम्ब के अगला संचरण आरंभ होना चाहिये। अतः स्थान परिवर्तन अनिवार्य - सा हो जाता है। किन्तु इस प्रकार की योजना में यह अनिवार्यता नहीं रह जाती। उसी दृश्यबंध पर अगला संचरण आरंभ हो जाता

है। 'लहरों के राजहंस' में अनिवार्यता ऐसा ही हुआ है।

'स्थान-अन्विति' के बाद 'समय की अन्विति' का प्रश्न उठता है। अनेक वर्षो के अन्तराल में फैले हुए वस्तु-व्यापार को सुष्ठु ढंग से समेट पाना प्राय: कठिन हो जाता है। वहाँ घटनाओं का तारतम्य बैठाना भी सहज नहीं होता इसी कारण आजकल नाटकों के लिये ऐसी वस्तु का चयन किया जाता है, जिसमें समय का अधिक विस्तार न हो। हमारे विचार में आज के नाटक भी एकांकी के समान प्राय: एक ही 'क्षण-बोध' को लेकर चले रहे है। तभी तो उनमें समय की अन्विति सफलता के साथ हो पा रही है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'लहरो के राजहंस' में भी एक ही 'क्षण-बोध' को रूपायित किया गया है। वह द्वंद्वग्रस्त चेतना का निर्णायक क्षण। यों द्वंद्व प्रनवरत है- लम्बा है और निश्चय ही एक-दो दिनों का नही है। बल्कि उसमें समग्र जीवन सिमटा हुआ है, पर जो रूप यहाँ रूपायित हुआ है वह चरम स्थिति के आस पास हैं तभी तो नाटक का समूचा समय केवल दो रातो में समेट लेने में नाटककार को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है उसने बड़ी कुशलता से समय के विस्तार एवं व्यापकता को केवल दो रातों में समेट पाले में सफलता पाई है। मोहन राकेश के पूर्ववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में समय की दृष्टि से वर्षो का व्यवधान विद्यमान है, फिर भी वहाँ समय में अवरोध ज्ञात नहीं हो पाता। फिर यहाँ तो वह अवरोध है ही नहीं। सारा काल-व्यवधान दो रात्रियों में सकुशल सीमित होकर रह गया है।

स्थान और समय के साथ 'कर्म' या व्यापार की अन्विति तो यहाँ स्पष्ट है ही सहीं। एक ही स्थान पर और एक ही समय में समूचे जीवन के द्वद्व को अभिव्यक्ति मिली है, मुख्य है निर्णय का क्षण ही अनवरत यातना वह यातना तो जैसे साकार हो उठी है। उसका विस्तार भी व्यापक एवं समग्र मानव-चेतना तक फैला हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटक के आधुनिक यथार्थवादी-नाटय-रचना-पद्धति के प्रमुख स्वरूप-विधान-संबंधी शिल्पविद्या का संकलनत्रय का पालन एवं निर्वाह यहाँ सर्वाशत: हुआ है।

आधुनिक शिल्प-पद्धति में रंग योजना एवं संकेतों का भी विशेष महत्व माना जाता है। इस दिशा में भी लहरों के राजहंस का लेखक पूर्णतया सजग एवं सचेष्ट दिखाई देता है। उसने नाटक में घटना स्थलों एवं पात्रों की मनोदशाओं ही रंग-निर्देश एवं संकेत प्रदान किये है। ऐसा करने के लिये नाटककार ने रंग और प्रकाश (Light & Shade) की सहायता के साथ-साथ विशेष प्रकार की ध्वनियों से भी सहायता ली है। जैसे - पग-चाप, कमलताल के राजहंसों के स्वर और पंखों की फड़फड़ाहट, प्रत्युष (प्रभात) की सूचक शंख-ध्वनि आदि, इसी प्रकार मनोदशा को अभिव्यक्त करने के लिये अव्यस्थित-सा' आवेशपूर्ण स्वर में', 'थोड़ा तमक्कर', 'जैसे चौंककर' आदि स्पष्ट संकेतों की योजना की है। इतना ही नहीं अभिनेयता की दष्टि से भी थान-स्थान पर अनेक प्रकार के संकेत एवं निर्देश दिये है, आधुनिक रंगमंच की दृष्टि यह योजना अनिवार्य मानी जाती है। अत: इनमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं है। इनकी योजना यथोचित परिणाम में प्रभावशाली ढंग से हुई है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रूप -बन्ध की दृष्टि से नाटक में आधुनिक शिल्यगत यथार्थवादी नाट्य-पद्धति का निर्वाह पूर्णसंगत हुआ है। नाटक का स्वरूप बन्धन (Structure) सभी प्रकार से सुसंगठित एवं युक्ति संगत है। उसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं है। नाटककार ने इसमें अनेक बार संशोधन कहीं-कहीं परिवर्तन -परिवर्द्धन किये है। परिणाम-स्वरूप रूप-बन्ध पूर्णतया कसा गया है।

भारतीय परम्परा में अनेक प्रकार के दृश्य रंगमंच की दृष्टि से वर्जित माने जाते हैं, किन्तु आधुनिक यथार्थवादी शिल्प-बन्ध उन पर किसी भी प्रकार का प्रतिबंध लगाना उचित नहीं मानता। जैसे नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग,

प्रसाधन, मद्यपान, आदि के दृश्य । 'लहरों के राजहंस' नाटक से नाटककार ने भारतीय परंपरा का पालन नहीं किया। बल्कि इस प्रकार के दृश्यों की योजना भी पूर्ण सफलता के साथ की है। ऐसे दृश्यों के अंकन में विशेषता यह है कि वे इतनी सफाई से प्रस्तुत किये है कि न तो उनके प्रस्तुतीकरण में ही किसी प्रकार की बाधा या कठिनाई उपस्थित हो होती है और न ही उनका पाठकों के मन-मस्तिक पर किसी प्रकार का दुष्प्रभाव ही पड़ता है। बल्कि सभी कुछ सहज स्वाभाविक गति एवं रूप में ही प्रदर्शित तथा चित्रित होता है। इतना और कहा जा सकता है कि इनकी योजना से नाटक के प्रभाव की गति और बढ़ गई है।

आधुनिक नाट्य शिल्प की दृष्टि से पात्रों की संख्या कम होना भी एक अनिवार्यता मानी जाती है। इसका कारण यही है कि पात्रों की भीड़-भाड़ में एक तो दर्शकों की चेतना बँटकर उलझ जाती है और दूसरे सभी पात्रों के चरित्रों को क्रमिक विकास भी कर पाना कठिन हो जाया करता है। इस कारण नाटक में नाटककार जो प्रभाव प्रस्तुत करना चाहता है। वह समग्रत: प्रस्तुत नहीं हो पाता । कई बार पात्रों की भीड़ भाड़ में कार्यान्विति में भी बाधा पड़ सकती है। क्योंकि प्रत्येक पात्र को सीधे कार्य के साथ सबंधित कर पाना सहज नहीं। इस दृष्टि से नाटककार को पात्रों का चयन एवं वस्तु व्यापार में योजित करते समय विशेष सन्तुलित दृष्टि से काम लेना पड़ता है। उस नाटक में इस आधुनिक शिल्पगत मान्यता का भी पालन किया गया है। 'लहरों के राजहंस' में पात्र उतने ही है।, जितनों के बिना काम प्राय: नहीं चल सकता। उनका चरित्र-चित्रण एक ही कार्य बिन्दु पर पूर्ण सफलता के साथ हुआ है। सभी पात्र विशेषत: मुख्य पात्र द्वंद्वग्रस्त चेतना के एक ही बिन्दु के विभिन्न रूपों को रूपायित करते है। इस दष्टि से श्यामॉग और भिक्षु आनन्द की योजना पर कुछ आलोचकों ने आक्षेप अवश्य किये हैं, विशेषत: भिक्षु आनन्द की योजना कुछ आवश्यक-सी भी प्रतीत होती है। फिर भी समग्रत: कहा जा सकता है कि पात्र योजना की दृष्टि से भी 'लहरों के राजहंस' नाटक का शिल्प पूर्णत: आधुनिक है और योजना सफल है।

स्थान की साज-सज्जा के समान आज के नाटकों में पात्रों का साज-सज्जा में भी सीमित साधनों के उपयोग की बात कही जाती है। विशेषत: ऐतिहासिक मूल वाले नाटकों में पात्रों की साज सज्जा का मामला काफी गम्भीर हुआ करता है। क्योंकि वहाँ देश-काल और वातावरण आदि का विशेष ध्यान रखना प्राय: अनिवार्य हुआ करता है। उनकी साज-सज्जा का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण या रूप आज हमारे सामने नहीं हैं। इस समस्या को 'लहरों के राजहंस' में नाटककार मोहन राकेश ने बड़ी कुशलता से निभाया है। उन्होने समूचे नाटक में वेश-सज्जा के परिवर्तन को प्राय: आने ही नहीं दिया। एक बार जो सज्जा हो गई, वही अन्त तक निभायी है। इस प्रकार इस दृष्टि से भी नाटक में कोई शिल्पगत कठिंनाई नहीं आने पाई।

नाटक के वस्तु-शिल्प से संबंधित एक बात और भी विशेष ध्यातव्य हैं वह यह कि पहले प्राय: नाटकों में एक आधिकारिक कथा के साथ-साथ प्रासंगिक या गौण कथा अथवा कथाएँ चलाने की पद्धति भी विद्यमान थी।

परन्तु आज की यथार्थवादी नाटय रचना पद्धति में ऐसी प्रासंगिक योजनाओं के लिये प्राय: कोई स्थान नहीं रहता। अत: सजग नाटककार गौण या प्रासंगिक कथाओं से भरसक बचने का ही प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' नाटक में श्यामांग प्रसंग गौण या प्रासंगिक कथा के समान प्रतीत होता है। इसके संबंध में डॉ. सुरेश अवस्थी लिखते है - ''इस संबंध में सबसे बड़ी बात यह है कि यह प्रसंग और उसका प्रयोजन उस शैली के नाटकों के गौण कथानक से भिन्न हैं, जिनमें मुख्य कथानक के साथ-साथ गौण कथानक चलता रहता है और जो नाटकों के समूचे रूप बन्ध में समन्वित होकर कथानक की बुनावट का अंग नहीं बन पाता, और जो अपनी स्वतंत्र सत्ता के

साथ केवल मूल कथानक का प्रतिरूप प्रस्तुत करके नाटकीय संघर्ष के एक प्रकार के कृत्रिम और अविश्वसनीय स्तर की सृष्टि करता है।'' क्योंकि आलोचकों के अनुसार - ''यह प्रसंग कई प्रकार से और कई स्तरों पर नाटक की मुख्य कथा और इसके मूल संघर्ष से जुड़ा हुआ है ''' श्यामांग प्रसंग नाटक के पूरे रूपबन्धन कह ही अंग है और यह नाटक की मुख्य कथा-वृति और द्वंद्व भाव को ही अधिक तीव्र बनाता है, अपना स्वायत्त अस्तित्व नहीं निर्मित करता।'' इतना स्वीकार करने के बाद भी विद्वान समालोचक ने दर्शक की रूचि से इस प्रसंग के औचित्य पर संदेह प्रगट किया है जो हमारी समझ में उचित नहीं। पहली बात तो यह है कि नाटक में एक ही आधिकारिक कथानक है। गौण या प्रासंगिक कथानक के रूप में यह प्रसंग है ही नहीं, घुमा-फिराकर आलोचक महोदय ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकारा है। दूसरे यदि कहीं इसका विलग आभास प्रतीत होता भी है, तो एक क्षणिक ही है, अन्ततोगत्वा यह प्रसंग नन्द की द्वंद्वग्रस्त चेतना को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वह प्रतीक बनकर नाटकीय शिल्प-विधान की कथा को अस्पष्ट नहीं करता। न ही रूपबन्ध ही किसी प्रकार से कमजोर बना है। हमारी समझ में तो उसके उन्माद -ग्रस्त प्रलाप दर्शकों को और भी अधिक सजग करने में ही सहायक होते हैं। उनके कौतूहल को जाग्रत करके औत्सुक्य को प्रवर्द्धित करते है। फिर इसे मुख्य कथानक से अलग करके देखना कहाँ तक संगत है। वह संगीत खण्डों के प्रयोग के समान चेतना स्तर पर मूल भाव एवं द्वंद्व को मुखरित करता है। इस दृष्टि से इस प्रकार की योजना को हम नाटककार वा एक नव्य, सशक्त शिल्पगत प्रत्योग कहेंगे।

शिल्प-विधान की दृष्टि से नन्द के दीक्षित होने की सूचना मात्र और भिक्षु आनन्द के नंद के साथ लगे रहने को भी कुछ आलोचकों ने नाटक की कमजोर कड़ी कहा है, परन्तु जब हम इस तथ्य से परिचित हो जाते हैं कि यहां मूल लक्ष्य नंद को दीक्षित दिखाना नहीं, बल्कि उसके चेतनागत द्वंद्व को स्पष्ट करना ही है तो अन आशंकाओं का स्वत: परिहार हो जाता है। वास्तव में यहां बात ऐसी ही है कि नंद का दीक्षित होना या न होना अर्थहीन है। अर्थवत्ता केवल उसे यातनामय निर्णायक क्षण तक पहुँचा कर छोड़ देना मात्र ही है। अत: हमारा यह निश्चित मत है कि इस प्रकार की कोई भी दुर्बल या लिखित कड़ी नाट्य शिल्प की दृष्टि से यहाँ नहीं है। क्योंकि नाटककार ने स्वयं अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया है:-

''यहां नंद और सुंदरी कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहां भी आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत है। इस स्पष्ट वक्तव्य के बाद इस संबंध में कुछ और कहना व्यर्थ है।

शिल्पगत परिवेश में आधुनिक यथार्थवादी नाट्य रचना पद्धति में सम्वाद योजना का भी विशेष महत्व होता है। यहां संवादों में सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता अधिक रहती है। सांकेतिक योजनाओं के लिये ही यहां संवादों में अनेकश: डॉट्स का प्रयोग किया जाता है। द्वंद्वग्रस्त पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार की संवाद योजना प्राय: अनिवार्य मानी जाती है हिन्दी में यह संवाद-योजना की यह विद्या श्री लक्ष्मीनारायण के यथार्थवादी समस्या-नाटकों से आरंभ हुई थी। 'लहरों के राजहंस' नाटक में नाटककार ने संवाद योजना के लिये इसी यथार्थवादी परम्परा को अपनाया है। नाटक के सम्वादों में सांकेतिकता एवं प्रतीक विधान के लिये अनेकश: डॉटस का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार द्वंद्वग्रस्त चेतना की अभिवयक्ति के लिये भी विशेष प्रकार की संवाद योजना अनिवार्य है। मोनो लॉग पद्धति इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। हिन्दी में इसी को ''आत्म-सम्भाषण' या 'स्वागत-कथन'

पद्धति कहा जाता है। आज यद्यपि कोष्ठक डालकर 'स्वागत' लिख कर संवाद योजना की पद्धति का बहिष्कार कर दिया गया है, फिर भी आधुनिक नाटकों में आत्म-सम्भाषण की शैली पर 'स्वगत-कथनों' को प्रश्रय मिल रहा है। क्योंकि ऐसा करना एक अनिवार्य है। नहीं तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवचेतन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। आत्मगत भावों की सहज अभिव्यक्ति की दृष्टि से आत्म-कथन या 'स्वगत-कथनों' का निश्चय ही अत्यधिक महत्व है। इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' की संवाद योजना अत्यधिक आधुनिक एवं सशक्त है। यह नव्य नहीं आधुनिक शिल्पगत मान्य प्रयोग है। यह सब देखकर आलोचकों ने 'लहरों के राजहंस' की संवाद योजना के संबंध में लिखा है -- ''नाटक के संवाद सुगठित, प्रयाजनशील और काव्य श्री से समृद्व है। छोट-छोटे, सुघड़ और काव्यपूर्ण नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यन्त कुशल है।'' इसके साथ हम वह भी जोड़ना चाहते है कि आधुनिक यथार्थवादी समस्या नाटकों की शिल्प- पद्धति के अनुसार सांकेतिक और प्रतिकात्मक संवादों की योजना में भी मोहन राकेश पूर्णतया सफल है। बल्कि संवाद-योजना के आधुनिक परिवेश में 'आत्म-सम्भाषण' या 'स्वगत-कथन' जैसे संवादों की योजना में तो वे पूर्ण सिद्ध-हस्त है।

प्रतीकात्मकता आज की समग्र साहित्यिक विधाओं की विशेषता है। आधुनिक यथार्थ नाटकों का तो वह एक शिल्पगत मान तत्व है। यह प्रतीकात्मकता वस्तु-योजना में तो रहती ही हैं, पात्र एवं कार्य योजना में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान रहता है। क्योकि उसी के माध्यम से वास्तव में सर्जक या नाटककार सबल रूप से आत्माभिव्यक्ति कर सकता है। पर इस बात का घ्यान रखना अनिवार्य माना जाता है कि प्रतीक योजना एक सीमा तक ही होनी चाहिए। वह सीमा दर्शक के भाव-बोध की सहजता हो सकती है, किसी भी प्रकार की गुझड़ बाजी नहीं। क्योंकि गुझड़ बाजी उब का कारण बन सकती है और वह नाटककार की सबसे बड़ी असफलता कही जा सकती है। इस दृष्टि से जब हम 'लहरों के राजहंस' की शिल्प-विद्या पर विचार करते हैं, तो अपनी समग्रत: मे वह एक उच्चकोटि का प्रतीक नाटक है। कहीं-कहीं प्रतीक-योजना कुछ जटिल-सी अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु उतनी नहीं कि वह भाव बोध में बाधक बने। यहां वस्तु-योजना भी प्रतीक है, और पात्रों के चरित्रों में चित्रित द्वंद्व भी। उसमें युग-युगों का मानवीय अन्तर्द्वन्द्व, निर्णय का यातनामय द्वंद्व अन्तर्हित है। ऐतिहासिकता तो मात्र आधार है। इसी कारण वह भी प्रतीक है। बाकी सब कुछ परिक्षेपित है और यह परिक्षेपण शिल्प की कसौटि पर नितांत खरा उतरा है। दर्पण, कमलताल के राजहंस, मृग का आखेट व्याघ्र के साथ द्वंद्व, कामोत्सव, बौद्वों के स्वर आदि समस्त द्वंद्वग्रस्त मानव चेतना को चुनौती देने वाले सफल प्रतीक है और इस अर्थ में नंद का केश कर्तन भी प्रतीक से अधिक कुछ नहीं।

इस प्रकार ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से नाटककार ने सामयिक युग बोध को नाटकीय परिवेश में बड़ी कुशलता से समेटा सहेजा है। आधुनिक सामाजिक जीवन की जिन अनेकानेक व्यवस्थाओं ने मानव जीवन के बाहफा चारणों को अनेकानेक विषयों की आरोपित श्रृंखला में जकड़ रखा है।, उस कारण आज मानव चेतना जिस प्रकार विघटित हो रही है, उसी को बड़ी सफलता के साथ रूपायित करने का यहां सफल प्रयास किया गया है। मानव चेतना आज सामाजिक आरोपित परिपाश्वों से ग्रसित होकर, क्षत-विक्षत हो रही है। आहत चेतना को क्न्दन तक की सुविधा नहीं। उस आहत कन्दन को यही यहां स्वरूप एवं आकार प्रदान किया गया है। इस प्रकार यहां शिल्पगत परिवेश समग्र आधुनिकता हैं।

उपरोक्त मुख्य बातों के साथ-साथ शिल्प-विधान की दृष्टि से नाटककार ने अन्य सामान्य बातों को भी यहां घ्यान रखा है। जैसे गीत-योजना का बहिष्कार, हास्य प्रसंग का परित्याग, सतही स्थितियों के चित्रण में न पड़कर सीधे

मुख्य कथ्य की ओर ही गतिशीलता, आदर्शों का चित्रण न करके जीवन के मात्र यथार्थ बोध का अंकन ओर स्वाभाविक का निर्वाह। अत: निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि शिल्प-विधान की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति पर लिखा गया एक सफल नाटक है:

42.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के शिल्प विधान पर टिप्पणी कीजिए ।
2. शिल्प विधान से आप क्या समझते हैं लहरों के राजहंस के शिल्प विधाान का सॅक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।

लहरों का राजहंस : संवाद योजना या कथोपकथन

पाठ-संरचना

43.0 उद्देश्य
43.1 परिचय
43.2 लहरों के राजहंस : संवाद योजना या कथोपकथन
43.3 अभ्यास के प्रश्न

43.0 उद्देश्य

मोहन राकेश के संवादों में अगर द्वंद्व की मंद और तीव्र लय पकड़ी है तो प्रणय के क्षणों में रोमांस की लय को भी बड़ी सफलता से हुआ है। नंद और सुंदरी जब भी निजी क्षणों में बातचीत करते हैं तो उन संवादो में आत्मीय क्षणों की, आपसी संबंध की कोमलता, भावमयता और निजीपन है। उनकी भाषा, संवाद-योजना सरस और रंगमंच को कियाशील बनानेवाला है। इस इकाई का उद्देश्य 'लहरों के राजहंस' के संवाद योजना से पाठकों को परिचित कराना है।

43.1 परिचय

कथोपकथन या संवाद योजना में मुख्य बात यह घ्यान में रखनी पड़ती है कि उनके द्वारा व्यक्त पात्रों के आन्तरिक एवं बाह्य चारित्रित गुणों का सम्यक उद्घाटन संभव हो सके। वे वक्ताओं के मन एवं बाह्य परिवेश के उज्ज्वल एवं सभी स्थितियों को विम्बित कर सकने में सक्षम दर्पण के छोटे छोटे, सुघड़ और काव्यपूर्ण नाटकीय सम्वाद लिखने में मोहन राकेश अत्यंत कुशल है।

संवाद या कथोपकथन ही एक ऐसा माघ्यम है जिसके आधार पर नाटक नाटक सिद्ध होता है, अन्यथा उपन्यास, कहानी , कविता आदि साहित्यिक विधाओं में तो उपन्यासकार, कहानीकार व कवि आदि को प्रत्यक्ष रूप से कुछ-न-कुछ अथवा सब कुछ कहने का अवसर मिलता है, नाटककार को अपने कथोपकथनों के आधार पर ही परोक्ष रूप में संकेत कर देने पड़ते हैं । ऐसी अवस्था में नाटक के संवाद अभिसार के समान ऐसे तीक्ष्ण होने चाहिए जो प्रयोग करते ही अपनी लक्ष्य सिद्ध कर सके। सफल संवाद वही कहा जाता है जो चरित्र चित्रण में पूर्ण सहयोग करें।

43.2 "लहरों के राजहंस" : संवाद योजना या कथोपकथन

स्वरूप - विधान की दृष्टि से सम्वाद या कथोपकथन को नाटको का मूल विधायक तत्त्व माना जाता है,

क्योंकि नाटकीय आकार-प्रकार एवं ढाँचे का सृजन संवाद ही करते है। वस्तु-विधान, वस्तु विकास और अन्तिम अन्विति तक की परिणति, पात्रों के आन्तरिक एवं बाह्य रूपों-चरित्रों का चित्रण, मूल कथ्य, उद्देश्य या गन्तव्य का उद्‌घाटन, देश-काल -वातावरण का चित्रण, समस्यों का अंकन और सब कुछ नाटकों में संवादों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाता है। अत: इनको अविवाद रूप से नाटकों का मूल विधायक तत्त्व माना जाता है।

उपयुक्त संवादों की योजना के लिए नाटककार को प्राय: निम्नलिखित बातों का ध्यान अनिवार्यत: रखना पड़ता है । सबसे पहली बात तो यह कि संवाद वस्तु-विषय को स्वाभाविक रूप से गति प्रदान करनेवाले होने चाहिए। वे कथ्य को आरंभ करके उसे सहज गति से अन्तिम परिणति की ओर ले जानेवाले होने चाहिए । इस प्रकार की अनुभूति कभी नहीं होनी चाहिये कि संवादों के कारण कथानक की सहज गति में किसी प्रकार का अवरोध आ रहा है या उनकी गढ़ना मात्र संवादों के लिये ही की गयी है। इस प्रकार का गत्यवरोध वस्तु-विषय को समझ पाने में तो बाधक बनता ही है, अभिनय की दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं होता। व्यर्थ के प्रलापों को सुनकर, या उनके कारण कथानक के सहज विकास की गति में अवरोध उत्पन्न होते देखकर दर्शक उब जाएगा और तब नाटक का समस्त प्रयोजन एवं आयोजन ही व्यर्थ होकर रह जाएगा।

कथोपकथन या संवाद-योजना में दूसरी मुख्य बात यह घ्यान में रखनी पड़ती है कि उनके द्वारा अन्य पात्रों के आन्तरिक एवं बाह्य चारित्रिक गुणों का सम्यग् उदघाटन सम्भव हो सके। वे वक्ताओं के मन एवं बाह्य परिवेश के उज्ज्वल एवं सभी स्थितियों को विम्बित कर सकने में सक्षम दर्पण के समान होना चाहिए। ऐसा होना चरित्र-चित्रण की दृष्टियों से ही अनिवार्य नहीं है, बल्कि नाटकीय स्वाभाविकता के लिए भी जरूरी है। कथावस्तु के सहज विकास के लिये तो आवश्यक है ही, रंगमंचीय सम्भावनाओं के लिए भी अनिवार्यत: आवश्यक है। उद्देश्य भी उनकी सहजता से ही स्पष्ट हो सकता है। पात्र यदि अपने कथन में सभी दृष्टियों से स्पष्ट होंगे, तभी वह दर्शकों या पाठकों को प्रभावित कर सकेंगे। अत: संवादों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना सक्षम एवं स्पष्ट होना आवश्यक है कि वे पात्रों के सभी रूपों को हमारे सामने रूपायित कर सकें।

काव्यमयता भी संवादों के लिए एक आवश्यक गुण माना जाता है, क्योंकि उससे भावुकता योजना होती है और भावुकता प्रभाव तथा मनोरंजन के लिए आवश्यक है। परन्तु काव्यमयता का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि नाटककार संवादों में लाक्षणिक या व्यंजनात्मक आलंकारिक प्रयोग करने लगे। संवादों की संक्षिप्तता भी एक परम आवश्यक गुण है। संक्षिप्त संवाद एक तो नाटकीयता की सर्जना में सहायक होते हैं, दूसरे प्रीतिविष्णुता की दृष्टि से भी उपयोगी होती है। संवादों में अभिनय तत्वों का समावेश-भाव-प्रदर्शन और अंग-संचालन उपयुक्त ढंग से होना चाहिए। उनका आकार-प्रकार अभिनेता या वक्ता का भाषण न प्रतीत हो। कोरा प्रलाप भी न लगे, इस कारण उनमें सारगर्भिता अपेक्षित है।

इन सब बातों के साथ-साथ स्वक्षता, स्वाभाविकता, सरलता, प्रवाहमयता लयात्मकता एवं तरन्नुम आदि भी संवादों के गुण माने जाते हैं । एक सीमा तक इन सब बातों का घ्यान रखना नाटक की गुणवत्ता को बढ़ाना है। इन सब बातों को घ्यान में रख कर जब हम 'लहरों के राजहंस' नाटक-योजना पर विचार करते हैं तो उपरोक्त सभी गुण उसमें उचित मात्रा में मिलते हैं । इसी कारण राकेश जी के नाटकों में जयशंकर प्रसाद के नाटकों के समान काव्य-तत्व एवं साहित्यिक गुणों की प्रतिष्ठा हो पाई है। आधुनिक परम्परा का नाटक होते हुए भी इसमें समस्या-नाटकों जैसी नीरसता नहीं, काव्यमयी सरसता है। इस नाटक के संवादों के संबंध में 'भूमिका' में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ.

सुरेश अवस्थी ने लिखा है:

''नाटक के संवाद सुसंगठित' प्रयोजनशील और काव्य श्री से समृद्ध है। छोटे-छोटे, सुघड़ और काव्यपूर्ण नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यन्त कुशल है।

''लहरों के राजहंस'' के संवादों की नाटककार के पूर्ववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और जयशंकर प्रसाद के स्कन्दगुप्त नाटक के संवादों से तुलना करते हुए डॉ. अवस्थी आगे लिखते हैं ।

''आषाढ़ का एक दिन' में उन्होंने मल्लिका के स्वागत कथन बहुत ही सुंदर लिखे हैं । पाठकों और दर्शकों - दोनों ने ही इन स्वगत-कथनों का नाटक में रस लिया, भले ही हिन्दी के नाटक समीक्षक ने स्वगत-कथनों को नाटकों से वर्जित कर रखा हो। इस नाटक में सुंदरी का शृंगार-प्रसंग पढ़कर स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रणय-प्रसंग याद आ जाता है।'' स्पष्टत: विद्वान आलोचक यही कहना चाहता है कि सम्वाद -गठन की दृष्टि से मोहन राकेश प्रसाद जी के समान ही कुशल है। प्रणय-प्रसंगों की सम्वाद योजना में तो वास्तव में मोहन राकेश ने कमाल कर दिया। 'लहरों के राजहंस' के शृंगार प्रसंग के संवाद कितने सजीव, चुस्त, प्रवाहमय, प्रणय-तरंगायित द्रुतवेगशील एवं भयात्मक है, इसका उदाहरण स्वयं वे आप ही है। यहाँ उदाहरण देखें:

सुंदरी :- (कटोरी लेकर रखती हुई) पता है लोग क्या कहते हैं?

नंद . :- क्या कहते हैं ?

सुंदरी :- कहते हैं कि आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है, जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है!

नंद :- इसमे झूठ क्या है?

सुंदरी :- झूठ नहीं है?

नंद :- यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता!

सुंदरी :- नहीं होता? मानवी का रूप बहुत देखा? (दर्पण उसकी ओर बढ़ा देती है)

लीजिए। (नंद दर्पण उसके हाथ से ले लता है) वहाँ जाकर खड़े हो जाइए।

(नन्द आगे दीपाधार के पास चला जाता है) इस तरह नहीं ··· ।

(पास जा कर दर्पण उसके साथ सटा देती है) इस तरह चन्दन की कटोरी हाथ में लेकर) अब मुझे विशेषक बनाने दीजिए ···।''

वास्तव में इस योजना में हम इतनी सहजता और स्वाभाविकता पाते हैं कि पाठक या शब्द अनसूना न रह जाए, कोई भाव अदेखा न रह जाए पाठक एवं दर्शक दोनों में नंद और सुंदरी जैसी तल्लीनता ही आ जाती है। यहाँ भावमयता, संक्षिप्तता, प्रवाह, आन्तरिक लय और अपनत्व आदि समस्त गुण विद्यमान है।

संवाद कथावस्तु की योजना एवं विकास में पूर्णतया सहायक सिद्ध हुए हैं । नाटककार ने पहले अंक के आरम्भ में बड़ी कुशलता से पहले तो संवादों के द्वारा वातावरण प्रस्तुत कर दिया है और तब एकाएक एक ही संवाद द्वारा कथा-सूत्र को आगे बढ़कर पकड़ लिया है। श्वेतांग और श्यामाँग दीपक जलाते पत्तियों, सुलझाते किसी आयोजन

की तैयारी कर रहे हैं । आरंभ में उनकी बातचीत से सीधे कामोत्सव का आभास नहीं मिलता! श्यामाँग पत्तियाँ सुलझाते हुए एकाएक कह उठता है।

श्यामाँग:- देखो श्वेतांग। एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही ···।

श्वेतांग :- तुमसे कोई भी बात समझने को कहा किसने है? जल्दी से दीपक जलाईए देवी सुंदरी अभी इधर आने वाली है। आकर देखेंगी कि दीपक नहीं जले तो बिगड़ उठेंगी। वर्षों के बाद आज उन्होनें कामोत्सव का आयोजन किया है ···।

इस प्रकार सहसा कथा-सूत्र आरंभ होकर पाठकों एवं दर्शकों का ध्यान एकाएक अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। फिर कथा-सूत्र द्रुतगति से अपने गन्तव्य की ओर बढ़ने लगता है । कथा कहने के साथ-साथ संवाद पात्रों के स्वभाव एवं व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्ति देते जाते हैं । कथा-योजना का रूप स्पष्ट होकर अन्य कथा-सूत्र भी जुड़ते जाते हैं । बीत रही या घटित होनेवाली सूचना भी उनसे मिलने लगती है। जैसे श्यामांग कहता है

''··· जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेष धारण रखा है। ··· कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ ··· यहाँ रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा।

संवादों में भावी घटनाओं की अलक्षित रूप से सूचना देने की शक्ति भी विद्यमान है। यहाँ यद्यपि अनुमान से ही अधिक काम लेना पड़ता है, पर भावी का क्षीणाभास नाटककार बड़ी कुशलता से कराता जाता है:-

''क्या कह रही थी ··· क्या देखा था ··· सूखा सरोवर, पत्र हीन वृक्ष और धुल भरा आकाश?'' और फिर सुंदरी उसका विश्लेषण करने हुए कहती है- '' यह भरा पूरा यौवन और हृदय में धूल भरा आकाश ···। ध्यातव्य है कि इन संवादों में दार्शनिकता का सहज उन्मेष भी विद्यमान है । नाटक के संवाद वास्तव में व्यंजना-प्रधान, अर्थपूर्ण एवं अत्यधिक संक्षिप्त है। पात्रों की मनोवृत्तियों का उद्‌घाटन दो-चार शब्दों वाले दो-चार वाक्यों से ही सहज में हो जाता है। नन्द द्वारा देवी यशोधरा के यहाँ से होकर आने के बाद के संवाद देखिये।

सुंदरी :- और आपने जाकर मेरी ओर से क्षमा मांग ली।

नंद :-नहीं। मैने कहा कि तुमने आज कुछ अतिथियों को निमन्त्रित कर रखा है, इसलिए ···।

सुंदरी :- (झूले से उठकर) अतिथियों को निमन्त्रित कर रखा है, इतना ही? (आकर चबूतरे के सहारे खड़ी हो जाती है) कामोत्सव की बात नहीं कह सके?

नंद :- कहने की आवश्यकता नहीं थी। वे यह बात जानती थी। उन्होने स्वयं ही कहा कि ···।

सुंदरी :- वे जानती थी? मुझे पात था वे अवश्य जानती है ···। क्या कहा उन्होंने?

नंद :- कहा कि अपनी व्यस्तता कारण तुम न भी आ सकी, तो मैं तुम्हे उनका आर्शीवाद ···।

सुंदरी :- (कुछ तीव्र स्वर में) आत्म-वंचना की भी एक सीमा होती है। आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे! मन में क्या सोच रही, होगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ। उन्हीं के कारण ···?

इस प्रकार यह संक्षिप्त, सरल एवं तरल सम्वाद, योजना, सुंदरी के व्यक्तित्व के इस पक्ष को सहज उजागर कर देती है कि वह स्वभाव से ही देवी यशोधरा के प्रति ईर्ष्यालु स्वभाव रखती है। अतः कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' की संवाद-योजना में चरित्रों के आन्तरिक स्वभावों को स्वरूप प्रदान करने की सहज क्षमता विद्यमान है।

प्रात्रों के मन: द्वंद्वों को चित्रित करने में भी संवाद सभी दृष्टियों से सापेक्ष एवं समर्थ हैं। नंद, सुंदरी, श्यामाँग के अन्तर्द्वन्द्व शब्दों का आवरण ओढ़कर सहज ढंग से उछल-उछल कर उनके द्वंद्व को रूपायित कर देते हैं । ऐसे प्रसंगों से नाटककार ने स्वगत-कथनों का स्वाभाविक प्रयोग किया है। आधुनिक आलोचक यद्यपि स्वगत-कथनों को अस्वाभाविक, अत: त्याज्य मानते हैं । पर 'लहरों के राजहंस' के स्वगत-कथनों के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें अन्तर्द्वन्द्वों के सहज उद्‌घाटन की क्षमता तो विद्यमान है ही सही, काव्यमयता, सरसता एवं प्रभाव भी है। श्यामाँग के समस्त संवाद और विशेष करके पहले अंक के बाद के वक्तव्य एक प्रकार से स्वगत-कथन ही है। नाटक के अंत में सुंदरी एवं नंद के स्वगत-कथन भी देखे जा सकते हैं । दूसरे अंक का तो उद्‌घाटन ही श्यामाँग के द्वन्द्वग्रस्त स्वगत कथन के साथ होता है।

''कोई स्वर नहीं है ··· कोई किरण नहीं हैं ·· सब कुछ ··· सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया है। ··· मुझे सुलझा लेने दो ··· सुलझा लेने दो ··· नही तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा ! ··· कोई उपाय नहीं है ··· कोई मार्ग नहीं हैं- इन लहरों पर से - लहरों पर से यह छाया हटा दो मुझ से ··· मुझ से छाया नहीं ओढ़ी जाती ···।''

इधर श्यामाँग बहक रहा है और उधर रात हो जाने पर भी आकुल-मन नंद टहल रहा है। दोनो की द्वंद्वग्रस्त चेतना श्यामाँग के इस स्वगत-कथन द्वारा अभिव्यक्त हो रही है। ध्यान देनेवाली बात है कि स्वगत-कथन सामान्य संवादों की तुलना में काफी लम्बे हैं । उनमें शब्दों की पुनरूक्ति भी है और समस्या-नाटकों के संवादों के समय डॉट्स का प्रयोग भी है। पर यह सब व्यर्थ नहीं, सप्रयोजन है। मन की उलझनों के क्षणों में ऐसा होना या हो जाना प्राय: स्वाभाविक रहता है। आत्म-लीन एवं द्वंद्वग्रस्त व्यक्ति का वक्तव्य सामान्य से लम्बा हो जाना भी स्वाभाविक है, क्योंकि वह अपने द्वंद्व की अभिव्यक्ति चाहता तो है, पर हो नहीं पाती, अत: उलझन में उसका वक्तव्य सहज स्थिति से स्वभावत: लम्बा हो जाता है।

इसी प्रकार नाटक के तीसरे अंक के अंत में नंद के संवादों को लिया जा सकता है। वे भी पर्याप्त लम्बे है। लेकिन भाषण प्रतीत नहीं होते। आत्मीयता एवं द्वंद्व कह गहनात वहाँ बनी रहती है। एक उदाहरण दिया जा सकता है यो यह उदाहरण हम जहाँ से आरम्भ कर रहें हैं, यहाँ से पहले भी यह विद्यमान है- पूर्ववर्ती स्वागत-कथन का एक अंश है।:

''तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होनें मुझे बहुत अकेला कर दिया। घर से ··· और अपने-आप से भी अकेला। जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है। ··· लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है। और अपने को ढ़कने के लिये उसके पास कोई आवरण नहीं है। ··· परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकतां ·· ।

तात्पर्य यह है कि एक तो अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देनेवाले ये स्वगत-कथन जैसे संवाद लम्बे हो गये हैं, पर उनमें अस्वाभाविकता नहीं। दूसरे ये वास्तव में नाट्य-शिल्प एवं वस्तु-विधान की माँग है। यह नहीं कि द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देनेवाले ऐसे कथन लम्बे ही हैं, अत्यन्त संक्षिप्त कथन भी देखे जा सकते हैं । जैसे सुंदरी का स्वागत-कथन:-

वहाँ वह सूना कमल ताल ··· यहाँ कक्ष का यह सूना पन ··· लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा ···।''

और फिर नाटक के अंत में कहे गये उसके ऐसे कथन तो जैसे अन्तर्द्वन्द्व को ऊड़ेलते हुए सी प्रतीत होते हैं :

''इतना ही तो समझ पाले है ये लोग।''' बस इतना ही इनकी समझ में आ पाता है।''' इस से अधिक कभी समझ भी नहीं पायेंगे ये''' कभी नहीं समझ पायेंगे ।''

मोहन राकेश ने अपने पूववर्ती नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में भी इसी प्रकार के सामान्य संवादों और स्वगत-कथनों की योजना की है। पर वहाँ केवल नाटक की नायिका मल्लिका ही स्वगत-कथन करती है, जबकि यहाँ नंद, सुंदरी और श्यामाँग - तीन-तीन पात्र ऐसे हैं । कुछ भी हो, इनके कारण नाटक में और उसके भाव-बोध में सघनता ही आई है।, अस्वाभाविकता या कुरूपता नहीं। सारे संवाद अति नाटकीयता के परिचायक हैं । अभिनय की दृष्टि से संवाद विशेष उपयोगी है। वस्तु-विकास, चरित्र-चित्रण, देश-काल और स्थितियों का उद्‌घाटन, रंगमंचीयता, सरलता, काव्यमयता, स्वाभाविकता और प्रभाव सभी तत्त्व इनमें अपने समग्र परिवेश में विद्यमान है।

43.3 अभ्यास के प्रश्न

1. 'लहरों के राजहंस' के संवाद योजना या कथोपकथन का विवेचन कीजिए।
2. कथोपकथन से आप क्या समझते हैं ? लहरों के राजहंस के आधार पर सोदाहरण विवेचन कीजिए ।
3. हिन्दी नाटक में कथोपकथन की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।

लहरों का राजहंस : मूल्यांकन

पाठ-संरचना

44.0 उद्देश्य
44.1 परिचय
44.2 लहरों के राजहंस : एक मूल्यांकन
44.3 अभ्यास के प्रश्न

44.0 उद्देश्य

लहरों के राजहंस में परिवेश को उतना नहीं लिया गया है जितना आधुनिक मानव-मन की जटिलता और अन्तर्द्वन्द्व को। उतनी विविधता भी नहीं है न पात्रों के स्तर पर और न भाव और स्थितियों के स्तर पर। नाटकीय गठन में उस जैसी सघनता भी नहीं है लेकिन फिर भी यह नाटक राकेश के संवेदनशील नाटककार व्यक्तित्व को उनकी नाट्य भाषा की शक्ति को और रंगमंच के समूचे वातावरण और शिल्प को अभिव्यक्त और स्थापित करता है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य नाट्यकला की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' के मूल्यांकन से पाठकों को परिचित कराना है।

44.1 परिचय

'लहरों के राजहंस' में मोहन राकेश ने एक ही बात को प्रतीक, बिम्ब, संकेत, संदर्भ, संवाद और क्रिया के माध्यम से बार-बार दोहरा-तिहरा कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह युक्ति रचना की शक्ति भी है और एक बड़ी सीमा भी ।

वस्तु को अधिक नाटकीय ढंग से संयोजित किया गया है। तीनों अंकों के स्वतंत्र आरंभ, संघर्ष और चरम विन्दु रखने के बावजूद उन्हें इस प्रकार कलात्मक और नाटकीय ढंग से अन्विति प्रदान की गई है कि नाटक का समग्र-प्रभाव कहीं खण्डित न हो।

एक धरातल से प्रस्तुत नाटक भोग-अभोग या पार्थिव-अपार्थिव के संघर्ष का नाटक है। यह संघर्ष यहाँ सुंदरी और गौतम बुद्ध की विपरीत जीवन-दृष्टियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है।

44.2 "लहरों के राजहंस" : एक मूल्यांकन

श्री मोहन राकेश-विरचित नाटक 'लहरों के राजहंस' एक कल्पना प्रधान ऐतिहासिक-रोमांस है। नाटककार ने

ऐतिहासिक परिवेश में व्यक्ति-जीवन की युग-युगों की द्वंद्वग्रस्त चेतना की समस्या, वर्तमान जीवन की वैषम्यपूर्ण अनिर्णीत सी स्थितियों को ही रूपायित करने का प्रयत्न किया है। समूचा वस्तु-विधान आद्यन्त अनेक प्रकार की उलझनों एवं द्वंद्वों से अनुप्राणित है। नाटककार ने वस्तु-योजना का मूल आधार संस्कृत के महाकवि अश्वघोष द्वारा प्रणीत 'सौन्दरानन्द' से ग्रहण किया है। इस महाकाव्य में कपिल-वस्तु के राजकुमार और गौतम बुद्ध के छोटे भाई कुमार नंद के बौद्ध मत में दीक्षित होने की कहानी विस्तार से दी गई है। इसके साथ-साथ नंद की रूप-गर्विता पत्नी सुंदरी के गर्वीले भाव-बोध का भी सविस्तार अंकन किया गया है । इस प्रकार नाटककार ने 'सौन्दरानन्द' को आधार बना कर भौतिकता या प्रवृति-मार्ग और आध्यात्मिकता या निवृति-मार्ग के मध्य बिन्दु पर खड़े, दोनों में से एक मार्ग का निश्चित निर्वाचन कर पाने में असमर्थ व्यक्ति के मनोद्वंद्व को ही सबलता से रूप एवं आकार प्रदान किया है। किसी भी प्रकार के चुनाव के क्षणों में अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक होता है, फिर चाहे उस चुनाव का आधार कोई भी दर्शन एवं जीवन-दर्शन क्यों न हो! यह एक शाश्वत सत्य है। इसी कारण नाटक का कथानक और उसका द्वंद्व जितना ऐतिहासिक है, उससे भी अधिक आधुनिक बल्कि चिरन्तन है। इसी कारण वस्तु-योजना के आधार को स्पष्ट करते हुए, एवं उसमें आधुनिकता की पुष्टि करते हुए नाटककार ने स्वयं कहा है।

''प्रस्तुत नाटक का आधार ऐतिहासिक है, परन्तु उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। कथा का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरानंद' काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का 'सौन्दरानन्द' भी है, क्योंकि संस्कृत तथा पालि साहित्य में जो कथा उपलब्ध है, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है। एक काल्पनिक अन्विति में उसे विस्तार दिया है।'' इसका अर्थ है कि नंद सुंदरी के द्वंद्व को चित्रित करने के लिये पहले तो 'सौन्दरानंद' के रचयिता ने कल्पना की और अब उसी आधार को सामयिक स्थितियों में परिक्षेपित कर 'लहरों के राजहंस' में नाटककार मोहन ने भी प्रचुर कल्पना का आश्रय लिया है। साहित्य में सत्यों एवं तथ्यों के रूपायन के लिये कल्पना का आश्रय लिया जाना कोई अस्वाभाविक बात भी नहीं! 'साहित्य के सुंदर' तत्त्व की रक्षा वास्तव में कल्पना तत्त्व के समावेश से ही हो पाती है।

अपनी अनेक स्वीकृतियों में नाटककार मोहन राकेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'लहरों के राजहंस' के वर्तमान रूप तक पहुंचने में उसे अनेक परिवर्तन एवं परिवर्द्धनों की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। इन प्रक्रियाओं के संबंध में नाटककार ने 'नाटक का यह परिवर्तित रूप' शीर्षक के अन्तर्गत आधार, प्रेरणा एवं परिवर्तनों की समस्त प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है।

'बहुत पहले से एक बिम्ब मन में था। एक दीपधारा एक ऊँचे शिखर पर पुरुष -मूर्ति - बाहें फैली हुई तथा आखें आकाश की ओर उठी हुई, दूसरा छोटा, शिखर पर नारी-मूर्ति, बाहें फैली हुई तथा आँखे धरती की ओर झुकी हुई '-- पहले पहल शायद अश्वघोष का-सौन्दरानन्द' पढ़ते हुए यह बिम्ब मन में बनने लगा था। क्यों और कैसे, यह कह सकना असम्भव है। उस काव्य का अपना बिम्ब तरंगों पर तैरते राजहंस का है या अनिश्चय में उठे रूके एक पैर का, परन्तु मेरे लिये यह सब धुँधला दृश्य था। स्पष्ट थे दो दीपाधार, जो सौन्दरानन्द में नहीं थे। पिछले बीस वर्षों से न जाने कितनी बार और कितनी तरह से मैने इन दीपाधारों के बीच धुंधले दृश्य को बदलते देखा है हर बार का दृश्य एक नये दृश्य का आभास देकर फीका पड़ जाता रहा है। आज तक किसी रचना को लेकर मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ।'' स्पष्ट है कि नाटक का वर्तमान रूप अनेक द्वंद्वों से गुजर कर अपनी अन्तिम परिणति तक पहुँच सका है, अत: उसका द्वंद्व भी सहज एवं स्वाभाविक है ।

इतना ही नहीं कि नाटक का रूप ही बदला हो, वास्तव में नाटककार के अनुसार पहले-पहल इसकी सर्जना एक कहानी के ही रूप में हुई थी। वह कहानी 43-47 में आकार ग्रहण कर सकी थी। इस नाटक के नंद, सुंदरी, अलका और मैत्रेनायक चार पात्र उस कहानी में भी थे। नाटक का यह प्रमुख सम्वाद कि ''नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।'' भी उस कहानी में ज्यों-का त्यों विद्यमान था। बाद में नाटककार ने उस कहानी को सुंदरी शीर्षक के अन्तर्गत रेडियो-रूपक में परिवर्तित कर दिया। परिवर्तन-परिवर्द्धन की यह प्रक्रिया यही नहीं रूकी, बल्कि निरन्तर चलती रही। सात-आठ वर्ष बाद नाटककार ने वह एकाकी 'रात बीतने तक' नाम से नाटक के रूप में पुनः लिखा। परन्तु एक निश्चित साँचे में ढला यह नाटक भी लेखक को पूर्णतः अपनी रुचि एवं आकांक्षा के अनुरूप प्रतीत नहीं हुआ। अन्त में सम् 1663 में उसका वर्तमान रूप 'लहरों के राजहंस' प्रकाश में आया। क्योंकि अब तक नाटककार ऐतिहासिक परिवेश में वर्तमान के सन्दर्भो को उतार पाने की कला से केवल परिचित ही नहीं बल्कि माहिर हो चुका था। इतना होते हुए भी इसके परिवर्तन ही प्रक्रिया रूकी नहीं, बल्कि 1666 तक के और बाद के संस्करणों में भी थोड़े-बहुत परिवर्तन होते रहे। इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवर्तन और निरन्तर हेर-फेर के चक्कर में पड़ कर अब इस नाटक का रूप सभी दृष्टियों से इतना मंज गया है, सज-सँवर गया है कि और किसी भी प्रकार के हेर-फेर की गुंजाइश नहीं रह गई। अब यह आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना-पद्धति की समस्त कसौटियों पर खरा उतरता है। कहीं किसी भी प्रकार की कमी दृष्टिगोचर नहीं होती।

नाटक का ऐतिहासिक कथ्य या कथानक केवल इतना ही है कि उस युग में गौतम बुद्ध का प्रभाव निरंतर बढ़ रहा था। बुद्ध जब भ्रमण करते हुए अपनी लीला-भूमि कपिलवस्तु में पहुँचे, तब उनका सौतेला भाई नंद अपनी रूप -गर्विता पत्नी के रूप-यौवन एवं प्रेम-पाश में उलझ कर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहा था। उसपर भी गौतम बुद्ध की अमरत्व एवं निर्वाणवादी निवृतिमुखी चेतनाओं का प्रभाव पड़ा। अतः उसकी मनःस्थिति कुछ विचित्र सी हो गई। एक ओर उसे अपनी पत्नी का रूप-यौवन आकर्षित करने लगा दूसरी ओर बुद्ध का निवृति मार्ग। अन्त में उसने पत्नी के रूप-पाश से मुक्त होकर बुद्ध मत में दीक्षा ग्रहण कर ली। बस, उसी मूल कथानाक को आधुनिक एवं युग-युगों की द्वंद्वग्रस्त चेतना के सन्दर्भ में स्वरूप एवं आकार प्रदान करने का यहाँ सशक्त प्रयास हुआ है । नाटक की समस्त अन्य कल्पित घटनाएँ निर्णय के मूल द्वंद्व को चित्रित करने के लिये ही कल्पित की गई हैं जैसे-देवी यशोधरा के दीक्षा ग्रहण करने की पहली सन्ध्या वाले दिन इससे ईर्ष्या करनेवाली रूप गर्विता सुंदरी के द्वारा आयोजित असफल कामोत्सव, नंद द्वारा आखेट के समय अपनी ही श्रम-क्लान्तियों से मरने वाले मृग का दर्शन और उसका निवृति-मार्गी अलक्षित प्रभाव उसके बाद नंद के कक्ष में सुंदरी के शृंगार-प्रसाधन का दृश्य, दर्पण का उठाना और उसके बाद बौद्धों के मुखर स्वर, दर्पण का टूटना और बुद्ध के नंद के द्वार पर आकर बिना भिक्षा पाए लौट जाना, पता चलने पर नंद का क्षमा-याचना के लिये जाना और अनिच्छा से उसके केशों का कर्तन, बाद में प्रतिक्रिया स्वरूप जंगल में जाकर नंद का व्याघ्र से द्वंद्व, घर लौटना और फिर सुंदरी के वाक्यों से आहत होकर गौतम बुद्ध के पास अपने कुछ तथाकथित प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये चले जाना आदि समस्त घटनाएँ कल्पित है। इनका प्रयोग एवं उपयोग दो विरोधी स्थितियों में जूझते मन के द्वंद्व को मुखर करने के लिये ही किया गया है जो पूर्णतया संगत एवं परिपूर्ण है।

इसके साथ-साथ श्यामाँग प्रसंग की योजना भी इन्ही द्वंद्वों को वैयक्तिक एवं सामूहिक द्वंद्वों को मुखरित करने के लिये ही सीमित रूप से सापेक्ष एवं व्यापक रूप से निरपेक्ष-भाव से किया गया है। दोनों प्रसंग परस्पर इस प्रकार सघनता से अन्तःस्यूत है कि एक ही सिक्के के दो रूप प्रतीत होते है। यहाँ द्वंद्व ही प्रमुख है और उसी को विशेष रूप से मुखरित किया गया है। नंद के क्रिया-कलाप भी द्वंद्व ग्रस्त चेतना को क्रियान्वित करते हैं और श्यामाँग के भी

नाटककार का लक्ष्य यह दिखाना उतना नहीं है कि नंद ने बुद्ध मत में दीक्षा ग्रहण कर ली, बल्कि यह है कि द्वंद्वग्रस्त चेतना के लिये निर्णय का क्षण कितना अधिक यातना-दायक होता है। फिर परिस्थितियाँ ही मानव की वास्तविक नियति है। उन्हीं का बहाव व्यक्ति को चाहे-अनचाहे रूप से किसी एक दिशा में ले जाता है। स्वयं निर्णय कर पाने में मानव चेतना प्राय: असमर्थ रहती है। युग का व्यापक प्रभाव स्वत: ही उसका आधार एवं परिहार बन जाता है। यों प्रत्येक दर्शन एक सीमा तक ही पूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि एक दर्शन जहाँ पहुँच कर अपनी यात्रा की इतिश्री मान बैठता है, वहीं से दूसरे दर्शन का कार्य प्राय: आरम्भ हो जाता है। अत: चेतना के द्वंद्व का परिहार कहीं नहीं। बस, परिस्थितियों का प्रवाह है, धारा का वेग है, जो चेतना के राजहंसों को कोई गति दिशा दे देता है । अन्यथा सब प्रयास मात्र उलझाव ही प्रमाणित होते हैं ।

नाटक की वस्तु-योजना में अपार्थिव या निवृति का द्वंद्व सुंदरी के कामोत्सव से ही स्पष्टत: प्रतिफलित होने लगता है। उस आयोजन में लगे श्यामांग के संवाद भी इस प्रतिफलन को रूपायित करने में विशेष महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । कामोत्सव का आयोजन एवं श्यामांग की टिप्पणियाँ इस संदर्भ में विशेष तीव्रता ग्रहण कर लेती है कि अगले ही दिन देवी यशोधरा दीक्षित होने जा रही है। श्यामांग की यह उक्ति विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

''पिछले वसन्त में आम बौराये थे। पेड़ो की डालियाँ अपने-आप हाथों पर झुक आती थी।''' परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार''' जब-जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है''' कल प्रात: देवी यशोधरा भिक्षुओं के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ''' यहाँ रात भर नृत्य होगा, आपानक चलेगा'''।

उनके बाद जब यह पता चलता है कि कामोत्सव में भाग लेने कोई नहीं आ रहा, आया हुआ एक मात्र अतिथि आर्य मैत्रेय भी लौट जाना चाहता है, तो द्वंद्व एक निश्चित सीमा तक पहुँच कर वस्तु-वोजना के प्रथम संचरण को पूरा करता है। स्पष्ट है कि कथानक का प्रवाह आरम्भ से ही तीव्र गति से चलता हुआ भाव एवं क्रिया-व्यापारों की अन्विति को पूर्णत: निर्वाहित करते हुए संचरण में प्रवेश करता है।

दूसरे चरण या अंक में नाटकीय वस्तु-योजना का द्वंद्व और भी तीव्र होकर स्पष्ट होने लगता है। नंद सुंदरी के प्रसाधन को अधूरा छोड़ कर अपने द्वार से बिना भिक्षा लिये लौट गये गौतम बु) के पास सुंदरी की सहमति से क्षमा याचना के लिये चला जाता है और एक प्रकार से फिर कभी न लौट आने के लिये ही चला जाता है। परिणामत: सुंदरी का शृंगार प्रसाधन भी कभी पूर्णता न प्राप्त करने के लिये अधूरा ही रह जाता है। यहाँ तक पहुँच कर नाटक के पाठकों एवं दर्शकों का मन भी प्रतीक्षा के द्वंद्व एवं उत्सुकता के द्वंद्व के चरम शिखर तक पहुँच जाता है। इस चरम विकास एवं परिणति में नेपथ्य से गूंजने वाली श्यामांग की उन्मादिनी उक्तियाँ विशेष रूप से सहायक होती हैं । उसका प्रस्तुत कथन सूक्ष्मत: भावी परिणति का आभास दे देता है:

''स्वर नहीं है''' कहीं कोई स्वर नहीं है''' इस अन्धकूप में सब खो गया है''' मेरा स्वर''' पानी की लहरों का स्वर''' सब कुछ एक आवर्त में घूम रहा है''' एक चील''' एक चील सब कुछ झपट कर लिये जा रही हैं''' इसे रोको''' इसे रोको'''।

पर नियति को कौन रोक सकता है। क्योंकि''' ''मुझ में साहस नहीं है''' किसी में साहस नहीं है'''''। और सब कुछ जिन आवर्तो में घूम रहा है, वह चेतना का ही आवृर्त है, द्वंद्व है जो नियति तक को घूमता हुआ - सा प्रतीत होता है। इसी कारण श्यामांग एक किरण की भी याचना करता है- '' मैं अकेला नहीं रहना चाहता'''

मुझे एक किरण ला दो''' एक किरण ''कोई नहीं लाएगा? कोई एक भी किरण नहीं लाएगा?'' वहीं इसी अंक में भावी की प्रेरणाओं से ही जैसे सुंदरी भी नंद से पूछ उठती है- ''कि आप सचमुच मुझसे रूष्ट हो जाएँ दो-एक राते मेरे कक्ष में न आये, तो कैसा लगेगा? पर अंत में नंद कभी न आने के लिए चला ही जाता है सुंदरी का यक्षिणी - रूप वही रखा रह जाता है। उसका आत्म-विश्वास और नंद द्वारा उसे शीघ्र लौट आने के वचन भी रखे के रखे रह जाते हैं । क्योंकि दर्पण के टूटने के रूप में लपने ही प्रतिबिम्ब तो पहले ही टूट जाते हैं भला अन्तर्द्वन्द्व से खडिण्त छायाएँ एवं व्यक्तित्व ओढ़े भी कैसे जा सकते हैं ।

इस प्रकार दूसरे अंक में वस्तु-योजना का दूसरा संचरण बड़ी तीव्रता से पूर्ण होता है और तब आता है अन्तिम तीसरा संचरण-तीसरा अंक! उधर सुंदरी नंद के प्रत्यार्वतन की प्रतीक्षा में आकुल है और उधर कमलताल के राजहंसों का पता नहीं कैसे उड़ जाने का समाचार मिलता है अलका उनके उड़ने के कारण को शायद आहत होना मानती है। यह आहत होना वास्तव में चेतना का आहत होना ही है, जो द्वंद्व को चरम शिखर पर पहुँच कर उसे अन्तिम परिणति एवं अन्विति की ओर बहा देता है। वास्तव में यहीं उस परिणति एवं अन्विति का आभास भी मिल जाता है। झूले पर अर्ध निद्रित सी शयन कर रही सुंदरी की प्रतीक्षा समाप्त होती हुई सी प्रतीत होती है। लगता है कि कमलताल का राजहंस लौट आयगा- और नंद लौट कर आता भी है, किन्तु कटे केश और भिक्षु के वेश में सुंदरी के शब्द - 'वे नहीं आये, अलका! जो लौट कर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है'''' नंद की चेतना को आहत कर देते हैं और प्रखरतम अन्तर्द्वन्द्व में उलझा नंद का मन अनेकानेक प्रश्न मन में लकर घर से लौट जाता है- बु) के पास शायद उनके प्रश्नों के उत्तर मिल सकें। इसी चरम बिन्दुओं पर समस्त प्रश्नों को ज्यों-का-त्यों रहने देकर वस्तु-विधान पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटक एक द्वंद्व से आरम्भ होकर उसी के चरम बिन्दु पर समाप्त होता है। चेतना के जिस द्वंद्व को नाटककार प्रखरता में अंकित करना चाहता है, वस्तु-विधान में, उसमें कोई कमी नहीं रहने दी गई।

वस्तु विधान के बाद प्रश्न उठाता है पात्रों एवं उनके चरित्र-चित्रण का । नाटक के समस्त मुख्य पात्र एवं उनके चरित्र बहुधा अन्तर्मूखी एवं द्वंद्व प्रधान है। फिर लेखक का उद्देश्य भी तो पात्रों के द्वंद्व को अंकित करना है, न कि नंद को भिक्षु बनाना। चेतना को द्वंद्व की दृष्टि से नाटक के तीन पात्र विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं । वे पात्र हैं - नाटक के नायक-नायिका नंद और सुंदरी तथा सहपात्री श्यामांग। वास्तव में श्यामांग की उपेक्षा करके या उसे नंद की चेतना एवं व्यक्ति में अन्तर्हित करके न तो पात्रों के चरित्रों का ही ओर न नाटक का ही उचित मूल्यांकन संभव हो सकता है। वह किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय पात्र नहीं है।

नंद नाटक का नायक है। उसका द्वंद्व स्पष्ट, प्रखर एवं सर्वाधिक तीव्र है। क्योंकि परिस्थितियों का भोक्ता वही है: उसे नाटककार ने आद्यन्त आधुनिक संशयग्रस्त चेतना का प्रतीक बना कर चित्रित किया है। उसकी चेतना प्रवृति निवृति के दोधारे में डूबती -उतरती दिखाई गई है। सुंदरी का रूपाकर्षण एवं प्रेम-विलास, दूसरी ओर बुद्ध का प्रभाव एवं अलक्षित आकर्षण कुछ इस प्रकार उसकी चेतना में घुलमिल गया है कि किसी भी करवट उसे चैन नहीं मिलता। लगता है कि वह सुंदरी के रूपाकर्षण में केवल लिप्त नहीं, बल्कि उसकी प्रखरता से आतंकित भी है। इसी कारण नाटक में नंद का अन्तर्विरोध बड़ी प्रखरता से चित्रित हुआ है। सुंदरी के समक्ष भीगी बिल्ली बन जानेवाला नंद केश-कटने की प्रतिकिया स्वरूप बन में जाकर व्याघ्र से भिड़ जाता है। दीक्षित होने के बाद भी घर लौट आना उसकी संशास्पद स्थितियों एवं चेतनागत गहन द्वंद्व का ही परिचायक है। केश कट जाने के बाद भी वह अपने हृदय को बदला

हुआ नही मानना चाहता और भिक्षु आनन्द से स्पष्टत: कहता है।

''और नहीं भिक्षु?''' यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक शील , और संयम , आर्यसत्य और अमृत – मैं जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कह देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं, कदापि नहीं है।

स्पष्ट है कि एक पथ पर डग भर कर भी वह अंत तक अपनी दिशा का निर्णय नहीं कर पाता। इसी कारण निर्णय का प्रश्न उसके लिये यातना का प्रश्न बन जाता है। नाटक के अन्तिम पृष्ठों में स्वगत–कथनों के रूप में नंद का द्वंद्व सशक्त ढंग से रूपायित किया गया है। उसका अस्तित्व – बोध फिर एक प्रश्न ही बना रहता है। अत: उसका व्यक्तित्व आधुनिक व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं बोध के समान खण्डित ही रहता है, खण्डित ही अधिक है और युग–परिवेश में इससे अधिक परिणति संभव भी तो नहीं।

नंद की तुलना में सुंदरी का व्यक्तित्व एवं द्वंद्व उसका मानसिक नहीं जितना बौद्धिक है। उसके चरित्र में अभिजात वर्ग की नारियों का गर्व, अहं, ईर्ष्या–द्वेष, रूपाकर्षण आदि सभी कुछ ही है। शासन करने की इच्छा ओर प्रक्रिया भी उसके व्यक्तित्व का एक प्रत्यक्ष अंग है। इसके साथ–साथ दण्ड देने और क्षमा करने की क्षमता भी वह रखती है। कुल मिलाकर वह एक सांसारिक की समस्त भावनाओं में युक्त नारी है। इसी कारण नाटक में वह 'छायावाद' या प्रवृत्ति–मार्ग की प्रतीक भी है। नाटककार ने उसकी शारीरिक सौन्दर्य एवं सौष्ठव के समान बातचीत की कला में भी सौन्दर्य सौष्ठव संपन्न दिखाया है। उसकी दृष्टि में क्षणिक जीवन का एक ही लक्ष्य है – उसका निरन्तर, भोग, यथासंभव भोग। अत: किसी भी कामना का स्थगित होना उसके लिये असहाय है। इसी कारण वह आर्य मैत्रेय के मुख से कामोत्सव के एक दिन के स्थगन की बात सुनकर कहती है :

''कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय। मैं अपनी आज की कामना कले के लिये टाल रखूँ''' क्यों? मेरी कामान मेरे अन्तर की हैं मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहिर का आयोजन उसके लिये उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।''

इस दृष्टि से सुंदरी के व्यक्तित्व को उग्र भी कहा जा सकता है और शायद इसी उग्रता ने नंद को आतंकित भी कर रखा है। वास्तव में सौन्दर्य का आतंक गहरी मार करनेवाला होता है। सुंदरी को अपने रूपाकर्षण की शक्ति पर केवल विश्वास ही नहीं, बल्कि गर्व भी है। उसी गर्व के भाव में ही तो देवी यशोधरा के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या भाव से भरकर वह अलका से कहती है– ''नारी का आकर्षण पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।'' अपने इसी गर्व एवं विश्वास भाव से ही प्रेरित होकर वह नंद को क्षमा–याचना के लिये बुद्ध के पास जाने भी देती है। पर नाटक के अन्त में उसके शृंगार–कक्ष से दर्पण के समान ही उसका गर्व एवं विश्वास खण्डित होकर रह जाता है। नंद आकर भी नहीं आता। वास्तव में सुंदरी का अन्तर्द्वंद्व यहीं पर मुखर हो पाता है और वह भी केवल इन दो–चार वाक्यों में ही कि ''' ''इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग! ''' बस इतना ही तो इनको समझ में आ पाता है! ''' इससे अधिक कभी समझ भी नहीं पायेंगे ये ''' कभी नहीं समझ पाएँगें।

इस प्रकार नंद के समान सुंदरी का व्यक्तित्व भी परिस्थितियों के निर्भय थपेड़ों से आहत खण्डित व्यक्तित्व के रूप में ही हमारे सामने उभर पाता है। आधुनिक सन्दर्भों में यह परिणति प्राय: निश्चित एवं अनिवार्य है। इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती।

इन दोनों पात्रों के समान श्यामांग का व्यक्तित्व भी अत्यधिक द्वंद्वग्रस्त व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। वह व्यक्ति रूप से चाहे नंद की द्वंद्वग्रस्त चेतना का परिचायक हो, पर समष्टि-दृष्टि से वह एक पूर्ण व्यक्तित्व है, सामान्यजनों के चेतनागत द्वंद्व का परिचायक हैं उसका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी अधिक हैं वास्तव में वह अन्तर्मुखी व्यक्तियों वाली निम्न, मध्य एवं मध्यवर्गीय व्यक्तियों के समान व्यवहार जगत के कार्यों में कुशल नहीं है। तभी तो उसे अपने प्रेम-संबंधों को अव्यक्त ही रहने देकर अपने ही अन्त में डूब जाना पड़ता है। विचारवान होते हुए भी इसी कारण वह जीवन के प्रत्यक्ष के सामंजस्य की पटरी नहीं बैठा पाता। कमलताल में अपने ही मनः द्वंद्वों में मचलने वाली छाया निहार कर वह उस अव्यावहारिक होने के कारण पत्थर तक मार देता है। और इसी कारण मानसिक यातनाओं से पीड़ित इस व्यक्ति को अन्धकूप में डाले जाकर शारीरिक यातना भी भोगनी पड़ती है। पहले अंक के बाद इसके स्वर एक स्पीरिट के रूप में ही अन्त तक मुखरित होते हुए सुनाई देते हैं, जो अपनी नंद की और समूचे परिवेश की ग्रस्त चेतनाओं के भाव को सजीव एवं सशक्त रूप में प्रतिध्वनित करते हैं। वास्तव में श्यामांग के चरित्र की सारी सार्थकता इस प्रतीति में ही है।

अन्य पात्रों में से अलका को सामान्यतः सुंदरी की बौद्विक चेतना का प्रतीक माना जाता है। परन्तु श्यामांग प्रसंग की दृष्टि से उसका महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि श्यामांग की अन्तर्मुखी व्यवहार -शून्य चेतना में प्रखरता लानेवाली नारी यही हैं। यो सामान्यतः वह अनुभूतिमयी एवं कर्तव्य परायण नारी है। श्वेतांग सामान्य नाटकीय एवं राजकीय प्रक्रिया का ही एक अंग है। नीहारिका भी इससे अधिक कुछ नहीं : आत्रेय सुंदरी के अहं-बोध को प्रखरता प्रदान करनेवाले पात्र हैं भिक्षु आनन्द अन्य आलोचकों के समान हमें भी अनावश्यक प्रतीत होते है। यों वे बुद्व के प्रतिनिधि एवं इसी रूप में नंद को निर्णायक मोड़ की ओर ले जाने के प्रतीक कहे जा सकते हैं ।

इस प्रकार सीमित आकार-प्रकार वाले इस नाटक में पात्र सीमित हैं एवं उनका चरित्र -चित्रण सीमित परिवेश में मूल कथ्य, द्वंद्व एवं आवश्यकता के अनुरूप पूर्ण सजगता के साथ चित्रित हुआ है। पात्रों में सामान्यतया अनावश्यक कुछ नहीं। अतः यह मोहन राकेश की सूक्ष्म दृष्टियों का ही परिचायक तत्त्व है।

सम्वाद योजना नाटकों का मूल विधायक तत्त्व होता है, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से नाटक के कलेवर की सर्जना होती है। नाटककार जो कुछ भी कहना-करना चाहता है, पात्रों को जो साँचा प्रदान करना चाहता है, कथ्य एवं गन्तव्य की उसकी जो कुछ भी योजना रहती है, देश-काल-वातावरण का उसे जिस प्रकार भी चित्रण करना होता है- सब कुछ सम्वादों के माध्यम से ही होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटकीय सम्वाद-योजना में मोहन राकेश पूर्णतया निपुण है। नाटकीय गति-शीलता, कथावस्तु की विकासशीलता, अतीत एवं भविष्य की घटनाओं की सूचना अन्तर्द्वन्द्व का उन्नयन एवं उन्मेष, वस्तु योजना के जोड़ आदि भी कुछ कर पाने में 'लहरों के राजहंस' के सम्वाद पूर्णतया सक्षम है। संवाद के नाम पर नाटक में स्वगत-कथनों की भी योजना हुई है। आधुनिक शिल्प-विधा की दृष्टि से यद्यपि स्वगत का प्रयोग दोषपूर्ण माना जाता है, किन्तु यहाँ साभिप्राय प्रयोग होने के कारण उन्हें दूषित नहीं माना जा सकता। क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चरित्रगत वारीकियों एवं द्वंद्वों के प्रकाशन के लिये स्वगत-कथनों का बहुत अधिक महत्त्व होता है। इसी दृष्टि से यहाँ उनका प्रयोग भी किया गया है। उनकी स्थिति 'आत्म-सम्भाषण' के समान ही प्रयोजनीय एवं सार्थक है। अतः हम संवाद योजना के संबंध में यहाँ अधिक कुछ न कह कर डॉ. सुरेश अवस्थी का मत उद्धृत कर देना चाहते हैं :

''नाटक के संवाद सुगठित, प्रयोजनशील और काव्य-श्री से समृद्ध है। छोटे-छोटे सुघड़ और काव्य पूर्ण

नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यन्त कुशल है। आषाढ़ का एक दिन' में उन्होंने मल्लिका के स्वगत कथन बहुत ही सुंदर लिखे हैं । पाठकों और दर्शकों – दोनों ने ही इन स्वगत– कथनों में रस लिया, भले ही हिन्दी के नाट्य–समीक्षक ने स्वगत–कथनों को नाटकों से वर्जित कर रखा हो। इस नाटक में सुंदरी का शृंगार–प्रसंग पढ़कर स्कन्द गुप्त और देवसेना का प्रणय–प्रसंग याद आ जाता है।''

स्पष्ट है प्रणय–संबंधी संवादों की योजना में मोहन राकेश की तुलना प्रसाद जी से की गई है। पर हमारे विचार में मोहन राकेश की संवाद कला उससे भी कही आगे है। जो सरल सरसता यहाँ है, वह छायावादी संवाद योजना में नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ न्यूनाधिक व्यंजना–पद्धति का आग्रह रहना स्वाभाविक है, युगीन प्रवृति है। किन्तु यहाँ तो प्रवृत्ति ही यथार्थवादी है। अत: यथार्थवादी परिवेश से सरल–सरस संवाद योजना विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनमें स्वाभाविकता अधिक है। बनावट या साज–सज्जा के प्रयत्न का नितान्त अभाव है।

नाटकीय परिवेश में देश–कला और वातावरण के चित्रण का भी विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि देश–काल के परिवेश में ही जीवन का कोई सत्य या तथ्य युग–सत्य बन पाता है। तभी उसका प्रभाव भी स्थायी हो सकता है। देश काल के परिवेश में ही कोई सत्य या तथ्य व्यापक होकर युग–चेतना को आन्दोलित भी कर सकता है । इस दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' में दुहरे वातावरण का चित्रण हुआ है । एक ओर तो यह दर्शाया गया है कि अतीत के पृष्ठों में कपिलवस्तु में एक नव्य निर्वाणोन्मुखी चेतना का जो दीपक जला था, वह छोटे–बड़े सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था, पर लोग विशेषत: उच्च वर्गों के लोग उसकी ओर एकाएक ही आकर्षित होते नहीं चले जा रहे थे। उस मत–वाद को वे सहसा नहीं ओढ़ते चले जा रहे थे। क्योंकि उनके सामने प्रत्यक्ष जीवन के रूपाकर्षण भी थे, विलास–भाव भी थे– पारिभाषिक एवं दार्शनिक शब्दावली में मायाजन्य विविध आवरण भी चेतना को आवृत किये हुए थे। उन्हें अनावृत कर पाना सहज नहीं था। अत: उससे मुक्त होने के लिये उन्हें अनेक स्तरीय चेतना के द्वंद्वों के साथ संघर्ष करना पड़ा होगा। सुंदरी के रूप–पाश एवं विलासमय बन्धनों की कारा में पड़े नंद का द्वंद्व या फिर अलका के प्रेम से आहत श्यामांग का अन्तर्मुखी द्वंद्व एक ओर उसी ऐतिहासिक परिवेश को प्रतिध्यनित करता है। इतिहास में तो बुद्ध मत की स्वीकृति के रूप के नंद की द्वंद्वग्रस्त चेतना की अन्तिम परिणति भी स्पष्टत: अंकित है।, जब कि नाटक में उसका संकेत ही है, क्योंकि यहाँ लक्ष्य द्वंद्व का चित्रण ही अधिक है।

इसी ऐतिहासिक परिवेश में नाटककार ने अपने देशकाल और वातावरण को भी प्रतीकात्मक रूप में बड़ी कुशलता के साथ रूपायित किया है, क्योंकि चेतना का द्वंद्व कोई नवीन बात नहीं। जब भी कोई नया दर्शन एवं जीवनदर्शन जन–मानस के सामने आता है तब उसका होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है, आज के जिस नितान्त भौतिक मूल्यों वाले युग में हमारी चेतना अनवरत अंगड़ाईयाँ ले रही हैं, उसमें सुख, शान्ति एवं संतोष का नितान्त ह्रास देखकर भी, मन:चेतनाओं का निरन्तर हो रही विघटन निहारकर भी हम कोई मार्ग नहीं पा रहे। द्वंद्वात्मक भौतिकवादों ने हमारे मनों और चरित्रों तक को विघटित करके रख दिया है, भौतिक अतिवादों की परिणति हम लोग निरन्तर असंतोष के रूप में कर रहे हैं, किन्तु इनसे विनिर्वाण का मार्ग क्या है?– चेतनाग्रसित है, दिशा–बोध अवरूद्ध है। हम अंधेरे में भटक रहे हैं । हाथ पाँव पटक रहे हैं – पर क्या है मार्ग? मार्ग, जिसे पाने के लिये आज सभी स्तरों पर निरन्तर द्वंद्व चल रहा है, जिसे पाने के लिये धर्म, समाज, राजनीति, ज्ञान–विज्ञान, मनोविज्ञान, देशकाल, राष्ट्रवाद, मानवतावाद सभी केवल तड़प रहे हैं । निश्चित ही आज की समस्त, संतप्त एवं द्वंद्वग्रस्त चेतना एक निर्णायक मोड़ चाहती है, व्यापक असंतोष उसी का परिणाम है। पर वह क्या है, नंद एवं श्यामांग के समान हमें भी तो समझ नहीं आ रहा। इसी कारण तो हम

भी कमलताल की लहरों पर तैरनेवाले हंस-बनकर रह गये हैं । नियति जिधर भी उड़ाये लिये जा रही है हंसो और नंद के समान उधर ही उड़े जा रहे हैं । अनिश्चित-से-अनिश्चित, बस धारा में आहत पंख फड़फड़ाते हुए वह रहे हैं- और बह रहे- निरंतर!

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटक में चित्रित देश काल और वातावरण दोहरे अर्थों में सार्थक हैं । यह सार्थकताओं में ही नहीं आ गई, बल्कि इसके प्रति नाटककार की सजगता और सापेक्षता ही उत्तरदायी है और इस उत्तरदायित्व को उसने बड़ी कुशलता से निभाया है।

नाटक का उद्देश्य द्वंद्वग्रस्त चेतना का चित्रण ही है और यह चित्रण बहुमुखी हुआ है। अत: इस विषय में कुछ अधिक कहना प्राय: व्यर्थ है। बस हम नाटककार के इन शब्दों को ही यहां उद्धृत कर देना इस संदर्भ में पर्याप्त मानते हैं ।

''यहाँ नंद और सुंदरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि उसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक मूल अंतर्द्वंद उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अंतर्गत है।'' स्पष्ट है कि यहाँ अन्तर्द्वन्द्व को रूपायित करना ही नाटककार का उद्देश्य है। नाटककार के वक्तव्य को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम डॉ. सुरेश अवस्थी का निम्न वक्तव्य उद्धृत कर देना संगत मानते है:

''लहरों के राजहंस में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वंद्व निहित है। इस द्वंद्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों का अन्तर्विरोध है जीवन प्रेय और श्रेय के बीच एक कृत्रिम विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिये चुनाव कठिन हो जाता है और चुनाव करने की स्वतंत्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र-बिन्दु है। धर्म भावना से प्रेरित इस कथानक में उलझे हुए ऐसे ही अनेक प्रश्नों का इस कृति में नये भाव बोध के परिवेश में परीक्षण किया गया है।'' हमारे विचार में नाटक के उद्देश्य के संबंध में इससे आगे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

रंगमंचीय नाटकों में भाषा का भी विशेष महत्त्व होता है। क्योंकि रंगमंच एवं अभिनेयता की दृष्टि से नाटक का स्वरूप केवल साहित्यिक और साहित्य-जनों से ही संबंधित न रह कर सर्व सामान्य से भी संबंधित हो जाता है। अत: उसमें सरलता, स्वाभाविकता, प्रवाह, काव्यमयता, तरन्नुम एवं लय आदि का रहना आवश्यक होता है, ताकि वह सर्व-सामान्य के लिये केवल ग्राह्य ही नहीं, बल्कि रोचक एवं प्रभावी भी प्रमाणित हो सके। 'लहरों के राजहंस' नाटक की भाषा इन कसौटियों पर कसने पर पूर्णतया खरी उतरी है यद्यपि भाषा में देश-काल और ऐतिहासिक तत्त्वों के सन्निवेश के कारण कुछ पारिभाषिक शब्द भी आ गये हैं । जैसे- विशेषक, आपानक, कक्ष, गवाक्ष आदि किन्तु फिर भी इनके कारण भाव-बोध में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। भाव-भंगिमाओं एवं रंग-संकेतों की सहायता से ऐसी शब्दावली सहज ग्राह्य हो जाती है। भाषा के कारण ही प्रसाद के नाटकों के बाद 'लहरों के राजहंस' के माध्यम से हिन्दी-नाटकों में एक बार फिर काव्यतत्व एवं साहित्यिक गुणों की प्रतिष्ठा हो पाई है । स्पष्टत: यहाँ नाटक की भाषा प्रसाद गुण सम्पन सप्रवाह, सप्राण, चलती- फिरती होने पर भी विशुद्ध साहित्यिक है।

नाटय शैली की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' नाटक आधुनिक यथार्थवादी नाटय रचना पद्धति पर रचा गया एक सफल नाटक है। नाटककार ने आधुनिक पद्धति की प्राय: सभी रूढ़ियों एवं व्यापारों का सूक्ष्मताओं से प्रयोग किया है।

वस्तु-व्यापार का तीन संचरणों या अंकों में विभाजन होते भी समूची प्रक्रिया में दृश्यबन्ध एक ही रहता हैं सभी घटनाएँ एवं व्यापार सुंदरी के कक्ष में ही घटित होते हैं । अन्यत्र घटनेवाली घटनाओं की सूचना भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यहीं प्राप्त होती है। श्यामांग के मुखरित स्वर भी इसी कक्ष को ही प्रतिध्वनित एवं मुखर करते हैं क्योंकि आधुनिक नाटकों में दृश्यों की योजना जीवन के जिस यथार्थ के आधार पर की जाती है, वह काफी ठोस एवं बोझल होती है। अत: थोड़ी-थोड़ी देर वाद उसका परिवर्तित हो पाना बहुत ही कठिन एवं व्यय-साध्य होता हैं, अत: एक दृश्य बन्ध की अनिवार्यता सापेक्ष है। नाटककार ने इस सापेक्षता का भाव बड़ी कुशलता से किया है।

आधुनिक नाटकीय तकनीक में संकलनत्रय-अर्थात् स्थान, समय और कार्य की एकान्विति का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है और वास्तव में वह भी परिस्थितियों की अनिवार्य माँग है। एक दृश्य बन्द से स्थान की अन्विति हो जाती है। फिर यहाँ नाटककार ने समय के विस्तार को भी बड़ी कुशलता से अन्वित किया है। केवल दो रातों के अन्तराल में सारा कथानक लिख लिया है, कार्यान्विति के संबंध में अधिक कुछ कहने की गुंजायाश ही नहीं छोड़ी गई। क्योंकि यहाँ द्वन्द्वग्रस्त चेतना को निर्णय की यातना के संदर्भ में आद्यन्त एक ही कार्य के रूप में सफलता के साथ रूपायित किया गया है।

शेष संवाद योजना में भी आधुनिक नाटय-विधा का ही प्रयोग हुआ है। स्वगत के निषेध के बावजूद 'आत्म-सम्भाषण या 'स्वगत कथन' को अब मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से युक्ति संगत माना जाने लगा है । समस्या नाटकों के समान ही नाटककार ने संकेतों एवं प्रतीकों के बिम्ब -विधान के लिये नेपथ्य भाषण एवं डॉटस आदि का भी उचित प्रयोग किया है।

साज-सज्जा और रंग-संकेतों की दृष्टि से भी आधुनिक तत्त्वों का पूर्णतया ध्यान रखा गया है। पग-चाप तक निर्देश ध्वनियों की योजना, छाया एवं प्रकाश की सहायता आदि सभी आधुनिक नाट्य शैली की ही देन है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में इन समस्त नाट्य विधाओं एवं रूढ़ियों का समग्र निर्वाह हुआ है। अत: कहा जा सकता है कि नाट्य-शैली की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' आधुनिकता के सुधड़ साँचे में ढली हुई एक अत्यन्त सफल सर्जना है।

समग्र मूल्यांकन दृष्टि से अन्तिम प्रश्न रह जाता है - अभिनय का जैसा कि ऊपर विवेचन से स्पष्ट है इस नाटक में रंगमंच एवं अभिनय की समस्त सम्भावनाओं को पूर्णतया ध्यान रखा गया है, आज नाटक की सफलता का प्रत्यक्ष एवं सर्वाधिक प्रशस्त मानदण्ड अभिनेयता को ही स्वीकारा जाता है । नाटककार इस मानदण्ड से भली-भाँति परिचित है। अत: उसने सर्जना क्षणों में रंगमंच एवं अभिनय की अनिवार्यता को क्षणभर के लिये भी ओझल नहीं होने दिया। रंगमंचीय समस्त आवश्यकताओं का पूर्ण निर्देश दिया है, जिससे कथ्य के अनुरूप ही वातावरण की प्रभावी सृष्टि हो सके। अभिनेताओं के कार्य व्यापारों के उचित निर्देश भी स्थान-स्थान पर दिये गये हैं, ताकि अभिनय में औचित्य का समावेश होकर प्रभविष्णुता का समावेश हो सके। साज-सज्जा, मंचीय एवं पात्रीय का भी उचित निर्देश नाटकीय परिवेश में मिलता है। खास परिवर्तन की झंझट नहीं। पात्रों की स्थितियों एवं मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिये भी उचित निर्देश जहाँ तहाँ दिये गये हैं । प्रभाव को क्रमश: बनाये रखने के लिये गीतों, नृत्यों आदि के परम्परागत अवरोध भी नहीं है।

नाटक की सभी घटनाएँ प्रसंग और श्यामांग प्रसंग भी इतना गठीला एवं अन्त:स्यूत है कि सभी का समन्वित प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। कोई भी घटना या पात्र व्यर्थ अथवा बोझल नहीं।

अभिनय की अनिवार्यता एवं प्रांजलता को घ्यान में रखकर ही सरल सरल संवादों की योजना की गई है। भाव-बोध के लिये भाषा भी कठिन भी कतई नहीं। संवाद छोटी-छोटी संगीत ध्वनियों, या काव्यात्मक छन्दों के समान प्रतीत होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अभिनय के लिये जिस तन्मयता एवं उत्सुकता की आवश्यकता होती है वह अद्यन्त विद्यमान है। उबा देनेवाला कोई भी प्रसंग या वाक्य यहाँ नहीं है। दूसरे अंक से संगीत खण्डों के समान सुनाई देनेवाले श्यामांग के चेतनागत प्रलाप रंगमंच की ओर से क्षणभर के लिये भी नहीं हटने देते । उन्हें अनसुना करके दर्शक कुछ भी खोना नहीं चाहतां कुल मिलाकर 'लहरों के राजहंस' नाटक में अभिनेय रंगमंचीय समस्त गुण एवं तत्त्व विद्यमान है। इस बात का प्रमाण है इसका प्रयोग, कलकता, दिल्ली आदि स्थलों पर सफलता के साथ अभिनीत किया जाना। उसके बाद भी अनेक बार इसका अभिनय हुआ है और हो रहा है।

अन्त में कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आधुनिक नाटकीय तत्त्वों (1. कथावस्तु, 2. पात्र और चरित्र-चित्रण, 3. संवाद या कथोपकथन, 4. देशकाल वातावरण, 5. भाषा शैली, 6. उद्देश्य या कार्य ओर 7. अभिनय) की दृष्टि से मोहन राकेश का यह नाटक 'लहरों के राजहंस' पूर्णतया सफल है। नाटककार ने इसमें कुछ अन्य साहसिक प्रयोग भी किये है। वे प्रयोग भी दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने पहले 'आषाढ का एक दिन' के बाद 'लहरों के राजहंस' प्रतिदिन विकसित हो रही नाटककार की नाटय कला का निश्चय ही अधिक यथार्थवादी, अधिक भव्य अगला कदम है और यह कदम अनेक अर्थों में इससे भी अगले 'आधे अधूरे' से भी कहीं अधिक सफल है।

44.3 अभ्यास के प्रश्न

1. नाट्य कला की दृष्टि से लहरों के राजहंस का मूल्यांकन करें ।

लहरों का राजहंस : व्याख्या

पाठ–संरचना

45.0 उद्देश्य
45.1 परिचय
45.2 लहरों के राजहंस : व्याख्या
45.3 अभ्यास के प्रश्न

45.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस के महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक पंक्तियों की व्याख्या से पाठकों को परिचित कराना है।

45.1 परिचय

लहरों के राजहंस अपनी तमाम गंभीरता, साहित्यिकता, श्रेष्ठता, समस्या की रोचक प्रासंगिकता के कारण महत्त्वपूर्ण है। अश्वघोष के सौन्दरानंद से एक अद्विग्न–उत्तेजित क्षण तथा संशयग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट मूड को ग्रहण करके मोहन राकेश ने लहरों के राजहंस में नंद और सुंदरी की क्रथा का आश्रय लेकर आधुनिक व्यक्ति की द्विधा विदीर्ण मानसिकता के नाटकीय चित्रण के साथ–साथ स्त्री–पुरुष संबंधों की सामान्य नियति की तलाश का गंभीर रेखांकन किया है। लेखक ने अपने महत्त्वपूर्ण विचारों को यत्र–तत्र नाटक में पिरोया है जो व्याख्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

45.2 लहरों के राजहंस : व्याख्या

1. देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है। न कुछ उलझता है न कुछ बिखरता है।

प्रसंग– कपिलवस्तु में स्थित राजकुमार नंद के भवन में उसकी सुंदर पत्नी सुंदरी की इच्छा से 'कामोत्सव' (वसन्तोत्सव) का आयोजन किया जा रहा है। राजमहल के कर्मचारी श्वेतांग और श्यामांग साज–सज्जा में व्यस्त है। वे डोरियों में पत्तियाँ बाँध रहे हैं। श्यामांग नामक कर्मचारी पतियों के ढेर में उलझा हुआ उन्हे सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है। वास्तव में नाटक का यह पात्र–श्यामांग स्वयं ही अपने आप में उलझा हुआ व्यक्तित्व है। उसके माध्यम से नाटककार ने नाटकीय द्वंद्व के एक भाग को मुखरित तथा चित्रित किया है। श्वेतांग जब श्यामांग से पूछता है कि

'तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई? तो श्यामांग कहता है कि मुझे तुमसे ईर्ष्या हो रही है। श्वेतांग के द्वारा ईर्ष्या का कारण पूछने पर उसके दीपक जलाने के कार्य की ओर इंगित हुए प्रस्तुत सन्दर्भ में कहता है:

व्याख्या :- मुझे तुमसे ईर्ष्या इस कारण हो रही है कि तुम्हारे कार्य में किसी भी प्रकार की कोई उलझन नहीं है, जबकि मुझे ये उलझी हुई पत्तियाँ और रस्सियाँ बार-बार सुलझानी पड़ रही है। तुम दीपक जला रहे हो। तुम्हारे इस दीपक जलाने के कार्य में इन पत्तियों के समय कुछ भी उलझता नहीं कि तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट हो। इधर ये पत्तियाँ तो हवा आदि के कारण उड़कर बिखर भी जाती है पर तुम्हारे कार्य में किसी भी प्रकार का बिखराव भी नहीं है। एक प्रकार का प्राकृतिक सन्तुलन विद्यमान है। अत: अपनी स्थिति और कार्य की तुलना में तुम्हारी स्थिति ओर कार्य को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक ही है।

वास्तव में नाटककार ने यहाँ श्यामांग के इस संवाद के माध्यम से युग पर व्यक्ति चेतना की दो स्थितियों का दार्शनिक विवेचना किया है! इसमें दो मुख्य पात्रों के व्यक्तित्वों और मन:स्थितियों की ओर भी संकेत है। एक तरु तो बुद्व का जीवन -दर्शन है जो एक दीपक से दूसरे दीपक के जलने के समय लोगों में परिव्याप्त होकर उनके जीवन को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता जा रहा है। दूसरी तरु राजकुमार नंद और उनकी पत्नी सुंदरी का भोगबादी जीवन-दर्शन है, जो अनेक प्रकार के द्वंद्वों और उलझनों के कारण मन-जीवन को सुलझाने की लाख चेष्टा करने पर भी निरंतर उलझता ही जाता है। चाहकर भी व्यक्ति उन उलझनों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता।

विशेष :- विवेचन दार्शनिक और प्रतीकात्मक है। दीपक से दीपक जलना' मुहावरा भी है और दाशनिक प्रतीक भी। 'उलझना, विखरना आदि शब्द द्वंद्वग्रस्त चेतना के प्रतीक और परिचायक है।

2. ''रात बीतने दे, फिर अपने मन से पूछता। रात भर नगर वधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कथा की हवा काँपती रहेगी। हवा काँपती रहेगी, और ढुलती रहेगी मदिरा, उसकी आंखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से। कपिलवस्तु के राजपुरूष रात भर उस मदिरा में और अन्यान्य मणि-मदिराओं में डूबते-उतराते रहेंगे । तू देखेगी और विश्वास नहीं कर सकेगी। जो नहीं देखेंगे, वे तो कल्पना भी नहीं कर पायेंगे ।''

प्रसंग:- कपिलवस्तु के राजभवन में राजकुमार नंद और विशेष कर उसकी सुंदर पत्नी सुंदरी की इच्छा तथा प्रयत्न से कई वर्षों बाद कामोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। राजकर्मचारी श्वेतांग ओर श्यामांग रानी सुंदरी की इच्छा और कल्पना के अनुसार साज-सज्जा में व्यस्त है। उसी समय रानी सुंदरी अपनी सखी और परिचारिका अलका को लिये व्यवस्था का निरीक्षण करते हुए वहाँ प्रवेश करती है। निरीक्षण करते हुए सुंदरी अलका से कहती है कि रात के अंतिम पहर तक उत्सव होता रहेगा। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि लोगों के मन में वर्षों तक याद बनी रहें। सुंदरी की बात सुनकर अल्का उसके स्वरों में स्वर तो मिलाती हैं पर सामर्थ ही आशंकाओं से ग्रस्त अपने मन की आशंका भी व्यक्त करना चाहती हैं कि जैसे यह उत्सव हो नही पायेगा। पर उसकी अधूरी अव्यक्त बात की ओर घ्यान न देकर, अपनी ही प्रवृति के अनुरूप उत्सव के रूपाकार और भावी परिणाम की ओर इंगित करते हुए सुंदरी कहती है:

व्याख्या :- किसी भी प्रकार की आशंका से घिरने की आवश्यकता नहीं। आज के कामोत्सव की यह रात बीत जाए, फिर आशंकाओं से घिरे अपने मन से पूछना कि जीवन क्या है? जीवन अपनी प्रवृतियों और इच्छाओं की भरसक पूर्ति का ही नाम है। उसमें व्यर्थ की आशंकाओं के लिए तनिक भी स्थान नहीं है और न रहना ही चाहिए। अपने उत्सव और सफलता की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए सुंदरी आगे फिर कहती है- इस सजे संवरे कक्ष में सारी रात

नगर की प्रसिद्ध नर्तकी चन्द्रिका का निराला और मोहक नृत्य होगा। उसके नृत्य में रत चरणों की तीव्र गति हवा से भी कही अधिक तेज, मोहक, आकर्षक और मस्ती का नया संदेश देनेवाली होगी। जिस नृत्य गति से हवा की सी गति से नृत्य होगा, उसी गति में सुनहले चषकों में मादक और रंगीली मदिरा ढलेगी। प्यालों में तो मदिरा ढलेगी ही, नर्तकी चन्द्रिका के नयनों का एक एक संचालन और कटाक्ष भी मदिरा जैसी मस्ती ही लुटानेवाला होगा। कपिलवस्तु के राजपुरुष तथा अन्य सम्भ्रांत लोग रातभर नर्तकी के उस रूप मदिरा का पान करके तो मस्त रहेंगें ही, मणियों से निर्मित प्यालों में अन्य अनेक स्वादों और रंगों से भरी मदिरा का पान कर के भी मस्ती के क्षणों में विभोर रहेंगे। इस प्रकार आज का यह कामोत्सव का आयोजन एक अक्षुण्ण स्मृति बन जाएगा। यहाँ ध्वन्यार्थ यह भी है कि खाओ-पीओ और मौज करो के सिद्वांत की गहरी छाप लोगों की चेतना पर अमिट हो जाएगी ओर वे लोग गौतम बुद्व के मोक्षवादी सिद्वांतों को भूल जाएँगे। यह सारा आयोजन इतना बढ़िया, आकर्षक और अभूतपूर्व होगा कि तू (अलका) तो क्या कोई भी देखनेवाला उसकी कल्पना नहीं कर सकेगा, उस पर विश्वास नहीं कर पाएँगे कि धरती पर, इस कपिलवस्तु में कभी इतना गौतम बुद्व की पत्नी यशोधरा की तरु है और उन लोगों की तरु भी कि जो बुद्व की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं ।

विशेष:- समूचा वर्णन- विवेचन प्रवृत्यात्मक है। सुंदरी की प्रवृत्तियों का द्योतक तो है ही सही चार्वाक के खाओ-पिओ, मौज करो के दर्शन के भी सर्वथा अनुरूप है। चार्वाक दर्शन प्रतिपादन की दृष्टियों से ही इस सम्वाद का महत्त्व है। उस युग के और उसी संदर्भ में आज के प्रवृतिमार्गी युग के उच्च वर्गों के जीवन की एक झांकि इस प्रसंग में मिल जाती है।

3. ''बात बहुत साधारण सी है। अल्का! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है ।''

प्रसंग:- राजरानी, नंद-पत्नी सुंदरी की इच्छा से बहुत दिनों के बाद कपिलवस्तु में स्थित उनके राजभवन में 'कामोत्सव' का आयोजन किया जा रहा है। सुंदरी अलका के साथ मिलकर आयोजन की भरपूर तैयारी में स्वयं व्यस्त है। उसे पूर्ण आशा है कि कामोत्सव इतना पूर्ण एवं सफल होगा कि वर्षों तक उसकी स्मृतियाँ कपिलवस्तु के राजपुरुष के मन पर रहेंगी। यह आयोजन वास्तव में प्रवृति मार्गी या चार्वाक -दर्शन की पालक सुंदरी की एक नारी सुलभ ईर्षाजन्य प्रतिकया है। इधर रातभर कामोत्सव चलने वाला है और उधर अगली सुबह गौतम बुद्व की पत्नी यशोधरा परिव्रज्या ग्रहण करने वाली है। ऐसी स्थिति में अलका का मन अनेक प्रकार की आशंकाओं से भरा है। वह रात में देखे सपने की चर्चा सुंदरी से करती है कि उसने सूखा सरोवर पत्रहीन वृक्ष और धूल भरा आकाश देखा है। वह यह भी कहती है कि प्रभात में देखे सपने सच हुआ करते हैं । अत: सुंदरी आशंका व्यक्त करते हुए कहती है कि कहीं तू भी यशोधरा की तरह भिक्षुणी न वन जाए, अत: आप करना होगा, पर अलका यशोधरा का पक्ष लेती है कि उसकी साधना रूप के कारण राजकुमार सिद्वार्ध आज गौतम बुद्ध बन कर आए हैं । इसे यशोधरा का सौभाग्य श्रेय न मान कर विकर्षण मानते हुए प्रस्तुत प्रसंग में सुंदरी कहती है।

व्याख्या:- यशोधरा एक नारी है। नारी के पास अपने रूप यौवन का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अस्त्र रहता है कि वह किसी भी प्रकार के पुरुष को उसके जाल में बाँध कर रख सकती है। वह अपने पुरुष को बांधे रखने के कामोत्सव के आयोजन जैसे अन्य उपाय भी कर सकती है। नारी का रूप-यौवन से भर पूरा गर्वीला और आकर्षक व्यक्तित्व पुरुष के मन में किसी भी वैराग्य या निवृति की भावना जागने ही नहीं दे सकता। ऐसी परिस्थिति में विचारणीय प्रश्न है कि

राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से अकेले ही निकल पड़े थे? अलका को समझाते हुए सुंदरी ऊपर के प्रश्न का उत्तर देती है- बात यह है कि एक नारी का आकर्षण से भरा व्यक्तित्व अपने पुरुष में पुरुषत्व का भाव हमेशा जगाये रखता है। जब तक इस आकर्षण के कारण पुरुष में पुरुषत्व का अजस्र भाव जागृत रहता है, नारी और घर-बार को छोड़कर रात में पुरुष के चुपचाप निकल पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत यदि नारी के रूप यौवन और अन्य प्रकार के किया-कलापों में विकर्षण और अपरूपता आ जाती है, तब उसके पुरुष को राजकुमार सिद्धार्थ के समान घर-बार त्याग करके विरक्ति के मार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है। ध्वन्यार्थ यह है कि यशोधरा में रूप यौवन का आकर्षण न रह जाना ही सिद्धार्थ के गौतम बुद्ध बनने का कारण है। पर मैं अपने रूप-आकर्षण और मादक आयोजनों के बल पर अपने पुरुष (राजकुमार नंद) को बुद्ध नहीं बनने दूँगी।

विशेष:- प्रवृतिमार्गी चार्वाक-दर्शन के अनुरूप विचार व्यक्त किए गए है। सुंदरी के विकृत अहम्भाव और यशोधरा के प्रति ईर्षा भाव के दर्शन भी इस उक्ति में हो जाते है। सूक्ष्म द्वंद्व का भाव भी लक्षित होता है और भावी के प्रति आशंका का भाव भी। भविष्य में सुंदरी का भविष्य और कथानक किस ओर जा सकता है।, इसका सूक्ष्म संकेत भी मिल जाता है।

4. "इस स्वर की भी कहीं तुलना है? कह नहीं सकती क्या अधिक सुंदर है- ओस से कमलों के बीच राजहंसों ने इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे अँधरे में दूर से सुनाई देता उनका कुजन? आज पहली बार इस समय बोलते सुना है। (जरा हंस कर) कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इससे भी वे निर्वाण ओर अमरत्व की बात कहे। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर काँपती हुई लहरें जिधर ले जाएँगे, उध र को तैर जाएँगी शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी-तट पर जाकर उपदेश देने को नहीं होगा ।"

प्रसंग :- कामोत्सव के आयोजन संबंधी व्यवस्थाओं की देख-रेख कर रही नंद पत्नी सुंदरी और उसकी सखी-परिचारिका अलका में गौतम बुद्ध के उपदेशों और यशोधरा के परिव्रज्या ग्रहण करने की चर्चा छिड़ पड़ती है। राजकुमार सिद्धार्थ के परित्याग को और यशोधरा के परिव्रज्या ग्रहण करने को सुंदरी दूध का उफान मात्र मानती है, एकरसता से उबे मन के परिवर्तन का क्षणिक उपाय मात्र स्वीकार करती है। उसी समय उद्यान कमलताल में तैरनेवाले राजहंसों का स्वर वातावरण में गूँज उठता है। उनके स्वरों के माधुर्य को अपने मधुर जीवन का प्रतीक मान कर, उधर सिद्धार्थ-यशोधरा के जीवन को क्षणिक उबाल मानकर एक प्रकार के दोनो जीवन दर्शनों और रूपों की तुलना करते हुए सुंदरी अलका से कह रही है:

व्याख्या:- जिस प्रकार कमलताल में तैरनेवाले राजहंसों के मधुर स्वरों की कोई तुलना नहीं, इनका कोई उत्तर नहीं उसी प्रकार मधुर हास्यों और कहकहों से मुखरित रहनेवाले प्रवृति मार्गी जीवन की भी उदासीनता सन्यास, वैराग्य और निवृति मार्ग पर चलने वाले जीवन से कोई समानता या तुलना नहीं हो सकती है, में निर्णय कर पाने में असमर्थ हूँ कि आखिर सौन्दर्य की परिभाषा क्या है और किन वस्तुओं में अधिक सौन्दर्य होता है? जब ओस से लदे कमलों के बीच कमलताल में राजहंसों का जोड़ा परस्पर प्रेम-भाव से भर कर कीड़ा करता है, तब वह अधिक सुंदर प्रतीत होता है या फिर चारों तरु छा रहे अंधेरे के गहराते इस वातावरण में ध्वनि सुनाई दे रहा उनका स्वर अधिक सुंदर तथा मधुर है। यहाँ ध्वन्यार्थ यह भी निकलता है कि एक तरु हमारा नंद सुंदरी का जीवन है जो कमलताल में तैरने

वाले राजहंसों के जोड़े के समान ही सुंदर और सुखद है। दूसरी तरु परस्पर अलग-अलग निराश और विरक्ति भरा सिद्वार्थ ओर यशोधरा का जीवन है, जिसमें कोई सौन्दर्य नहीं है। आज पहली बार संध्या के इस झुटपुटे में बोलकर ये राजहंस जैसे इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं । इसके बाद तनिक हंस कर सुंदरी फिर अलका से व्यंग्य भरे स्वरों में कहती है - गौतम बुद्व नदी तट पर बैठकर लोगों को निर्वाण का उपदेश देते रहते हैं । उनसे जाकर कोई कह देखे कि वे इस कमलताल में तैरने वाले राजहंसों को भी एक बार आकर अपना मुक्ति का उपदेश देकर देखें। तब उन्हें पता चल जाएगा कि उनका उपदेश कितना अप्रभावी और व्यर्थ है। यदि वे आकर उपदेश देना भी चाहेंगे तो ये राजहंस एक बार विस्मय-चकित दृष्टियों से उनकी ओर देखकर, फिर उनकी उपेक्षा कर लहरों के साथ अपने मन के सुखद भुलावों में जिधर जी चाहेगा, तैर जायेंगे । यहाँ ध्वन्यात्मक भावार्थ यह है कि मेरा यह राजभवन और इसमें रहने वाले हम कमलताल के राजहंसों के जोड़े के समान ही सुखी और निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत कर रहे हैं यदि गौतम बुद्व यहाँ आकर अपने उपदेशों से मुझे और मेरे पति नंद को प्रभावित करने का प्रयत्न करेंगे, तो हमसे उन्हें सिवाय उपेक्षा के और कुछ भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि प्रकाश और अन्धेरे, स्वर संगीत और रोदन के समान हमारे प्रवृति मार्गी और उनके निवृतिमार्गी जीवन का आपस में कोई तालमेल नहीं है। अत: इन राजहंसों और कमलताल के सुखद वातावरण के समान हमारे सुखी जीवन को देख कर हो सकता है कि उस दिन गौतम बुद्ध भी नदी तट पर जाकर उपदेश देना भूल जाए। उनका मन भी अपने मुक्ति और निवृतिमार्गी पथ में भटक जाए।

विशेष :- प्रस्तुत प्रसंग में प्रवृत्ति - निवृति के जीवन दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रवृति मार्गियों की अपनी कल्पनाएँ विशेष रूप से दर्शनीय है। 'काम्पती हुई लहरें' जीवन की अस्थिरता और अस्थिर विचारों की प्रतीक है। ओस से लदे कमल जीवन की सुखद कोमल कान्त परिकल्पनाओं की परिचायक और झुटपुटे अंधेरे निवृति मार्गी के प्रति मार्गियों के विश्वास का ! नाटक के नामकरण पर भी इस प्रसंग से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

5. "वहाँ देखो ताल की लहरों पर वह छाया उतरी नहीं है। लहरें उसमें गुम हुई जा रही है। कमल-ताल कमलपत्र सब उसमें खोये जा रहे हैं । मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सब को लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े का भी मुझे डर लगा। मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा ।"

प्रसंग :- नंद पत्नी सुदरी अपनी परिचारिका और सखी अलका के साथ कामोत्सव के आयोजन संबंधी व्यवस्थाओं का निरीक्षण कर रही होती है। तभी पहले उसे कमलताल के राजहंसों के कुलेल करने का स्वर सुनाई देता है, फिर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे किसी ने राजहंसों पर पत्थर फेंका हो और वे कराह उठे हो। इससे सुंदरी क्रोधित हो उठती है। वह अलका को पत्थर फेंकने वाले व्यक्ति को पकड़कर लाने का आदेश देती है। अलका जाकर अस्त-व्यस्त और विक्षिप्त से प्रतीत हो रहे श्यामांग को पकड़ लाती है। उसे देख कर क्रोधावेश में सुंदरी जब उससे राजहंसों पर या कमलताल में पत्थर फेंकने का कारण पूछती है, तो श्यामांग अपने विचारों के अनुसार कारण पर प्रकाश डालते हुए कहता है:

व्याख्या:- आपने मुझे काम करने से रोक दिया था, अत: मै कमलताल के पास घिरे रहे अंधेरे के समीप चला गया। यहाँ कमलताल के पास घिरे अँधेरे का ध्वन्यार्थ एवं प्रतीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। यहाँ अँधेरे और उसकी छाया एक तो सांसारिक दुखों और निराशाओं की प्रतीक है, दूसरे गौतम बुद्व के परिव्याप्त हो रहे दर्शन की सघनता के प्रतीक है, जिसकी ओर श्यामांग सहित प्राय: सभी कपिलवस्तु निवासी क्रमश: आकर्षित हो रहे हैं, आगे चलकर

राजकुमार नंद भी अनिश्चय के क्षणों में आकर्षित हो जाता है, तो श्यामांग इन्हीं बातों की ओर सांकेतिक भाषा में इंगित करते हुए आगे फिर कहता है वहाँ कमलताल के पास जाकर मैने देखा कि उसकी लहरों पर भी छाया उतरने लगी है। ध्वन्यार्थ है कि इस राजभवन और यहाँ से स्वामी नंद के मन में भी गौतम बुद्व के विचारों, आदर्शों की अलक्षित छाया पड़ने लगी है। परिणामस्वरूप उल्लास और उमंग की प्रतीक सभी लहरें उस सघनता में खोई या विलीन हुई जा रही है। कमलताल कमलपत्र अर्थात अपने आपको सर्वथा असम्पृतत्व समझने वाले सुखों की कोयलता का जीवन जीने वाले भी उससे अप्रभावित नहीं हो पा रहे, उसे देख कर मुझे महसूस होने लगा कि छाया सभी को निगल जाएगी, कमलताल में तैरनेवाला राजहंसों का जोड़ा भी उससे बच न पायेगा । अर्थात् अन्य सभी कपिलवस्तु निवासियों के साथ-साथ नंद और सुंदरी भी गौतम बुद्व के प्रभाव की छाया में तिरोहित हो जाएंगे। अतः भावी की आशंका से सत्रस्त होकर मैं छाया पर पत्थर फेंक कर उसे हटाने का प्रयत्न करने लगा अर्थात् मन में भरी आशंकाओं को इस प्रकार के व्याज से दूर करने की चेष्टा करने लगा।

विशेष- श्यामांग स्वयं भी अलका के प्रति आसक्त है, अतः अपने प्रेम के कारण वह स्वयं तथा अलका को बुद्व के व्यापक प्रभाव से बचाए रखने के लिये चिन्तित है उसकी आशंकाओं का मूल कारण यही है। दूसरे प्रवृति तद्जन्य निराशा के दर्शन का आभास भी इन पंक्तियों में मिलता है । कथाकीय भविष्य की योजना भी स्पष्ट हैं प्रत्येक शब्द अपना सांकेतिक और प्रतीक अर्थ रखता है। उन्हें समझे और जोड़े बिना उपर्युक्त ढंग से व्याख्या सम्भव ही नहीं । यह भी ध्यातव्य है कि श्यामांग राजकुमार नंद के व्यक्तित्व का ही एक भाग है ।

6. "कोई स्वर नहीं है ... कोई किरण नहीं है ... सब कुछ ... सब कुछ इस अन्धकार में डूब गया है। ... मुझे सुलझा नेने दो ... सुलझा लेने दो .. नही तो अपने हाथों का मैं क्या करूंगा। ... कोई उपाय नहीं है ... कोई मार्ग नहीं ... लहरों पर से ... यह छाया हटा दो .. मुझ से ... मुझ से यह छाया नहीं ओढ़ी जाती ।"

प्रसंगः- यह संवाद 'लहरों के राजहंस' नाटक के दूसरे अंक के आरंभ से किया गया है। रंगमंच पर अंधेरा है। अधेरे में नंद टहल रहा है उस की आकृति छाया सी ही दिखाई देती है। उधर नेपथ्य में ज्वर तथा उन्मादग्रस्त श्यामांग का प्रलाप सुनाई देता है। प्रस्तुत संवाद वास्तव में श्यामांग का प्रलाप ही है। इससे नाटककार ने श्यामांग के अन्तर्द्वन्द्व और सत्रस्त चेतना का तो उद्घाटन किया ही है उसके माध्यम से राजकुमार नंद की द्वंद्वग्रस्त चेतना और समूचे युग की अनिश्चय अविश्वास के क्षणों में पल रही चेतना को भी रूपायित किया है। वह कहता है:

व्याख्याः- कहीं से कोई ऐसा स्वर नहीं सुनाई दे रहा है कि जो भटकी हुई तथा द्वंद्वग्रस्त चेतना को आशा का कोई संदेश दे सके। कहीं से प्रकाश की कोई किरण भी फुट कर नहीं आ पा रही कि जो भटकी हुइ निराश चेतना के लिये नई आशाओं का प्रकाश बन सके। लगता है कि जब निराशा दुख और भटकी हुई चेतनाओं के गहरे, अंधेरे कुंए मे सभी कुछ डूबा जा रहा है। उन्हें सहारा देकर डूबने से बचाने वाला कही कुछ नहीं, कोई आधार नहीं। इन स्थितियों से उबर पाने का कहीं कोई मार्ग भी नहीं है। मुझे उलझी हुई इन पंक्तियों अर्थात् जीवन की गुत्थियों को सुलझा लेने दो, नहीं तो मेरे हाथ, मेरी चेतनाएँ, मेरी कार्य शक्तियाँ सभी कुछ व्यर्थ होकर रह जायेंगी। जीवन में जो इच्छा, आशंकाओं की अनवरत लहरें उठती हैं, उनपर जो प्रवृति-निवृति की आयाचित छायाएँ आ पड़ा करती हैं, मानवीय चेतनाओं को उनसे निस्तार ओर छुटकारा पाने का कोई भी उपाय नहीं सूझता। उनसे बच कर निकल जाने का कोइ रास्ता नहीं है । यह जीवन की एक बहुत बडी असमर्थता, विवशता है। द्वंद्वग्रस्त चेतनाओं की आयाचित छाया

को ओढ़ सकने, इसे अपना या इससे निस्तार पा सकने की मुझमें शक्ति नहीं है, किसी में शक्ति नहीं है कि इस प्रकार की संत्रास, संताप और द्विविधात्मक स्थितियों को सहन करते हुए जी सके।

भावार्थ और ध्वन्यार्थ यह है कि एक तरु तो व्यक्ति की द्वंद्वग्रस्त चेतनाएँ है, जो उसे निरंतर निराशा की ओर ढकेलने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर इस स्थितियों से छुटकारा पाने की तड़प है। ये दो प्रकार की चेतनाएँ हिलती लहरों में डोलते विहग या राजहंसों के समान ही जीवन को भी अस्थिर आशंकामय बना देती हैं । इस संसार में रहते हुए इनसे छुटकारा पा सकने का कोई रास्ता ही नहीं है।

7. "किसी के लिये भी तो नहीं सोच पाती .... परन्तु फिर भी यह विचार आता है कि राजहंस आहत थे ''' कम से कम एक उनमें अवश्य आहत था। कल कैसा क्रन्दन उसका सुना था? क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते ? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण.. क्या इतनी आसानी से छूट सकता था ?"

प्रसंग :-यह संवाद 'लहरों के राजहंस' के तीसरे अंक में से लिया गया है। राजकुमार नंद बिना भिक्षा लिए द्वार से लौट गये गौतम बुद्ध से क्षमा याचना करने गया हुआ है। पीछे उनके लौट आने की प्रतीक्षा में रानी सुंदरी चिन्तित होती है। इसी बीच में एक अप्रत्याशित घटना घट जाती है। वह यह है कि कमलताल में तैरनेवाले राजहंस अचानक उड़ जाते हैं । उनका उड़ना वास्तव में आगे घटित होनेवाली घटनाओं का पूर्वाभास है। पता चलने पर रानी सुंदरी और अधिक चिन्तित हो उठती है। भावी की आशंकाओं से उसका हृदय द्रवित हो उठता है। संदेहों से भर उठता है। इसी घटना को लेकर वह अपनी सखी और सहचारी अलका से बात करते हुए कहती है:

व्याख्या :- राजहंस कमलताल से स्वयं उड़ गये हैं या उन्हें किसी ने उड़ा दिया है, इस संबंध में कुछ भी कहा नहीं जा सकता । श्यामांग या किसी पर भी संदेह नहीं प्रगट किया जा सकता। वह फिर दूसरे ढंग से विचार करते हुए कहती है राजहंस का जोड़ा कुछ घायल भी था। तभी तो अब उसका आह-कराह से भरा क्रन्दन सुनाई दिया था। सहज ही अनुमान होता है कि राजहंसों के जोड़े में से कम-से-कम एक तो अवश्य ही घायल था। यहाँ नाटककार का सांकेतिक अर्थ घटनाक्रम के अनुसार मृग का शिकार करके लौटने के बाद नंद की मनोस्थिति की ओर व्यक्ति की ओर भी है। उस पर नंद के द्वार से उसके आदरणीय बड़े यशस्वी भाई गौतम बुद्ध बिना भीख के ही लौट गए हैं, इस बात की असीम वेदना ओर अपराध का भाव भी नंद के मन में था। एक राजहंस का घायल होना नंद के मानिसक रूप से घायल होने का प्रतीक है। पर अपने रूप-योवन के गर्वीले अहं से पीड़ित सुंदरी यह मानती है कि नंद उसके रूप-जाल का मोह तोड़ कर उसी प्रकार कहीं नहीं जा सकता, जिस प्रकार कमलताल के सुंदर और सरस वातावरण को छोड़कर राजहंस कहीं नहीं जा सकते। अत: वह आगे कहती है -- क्या राजहंसों के पंखो में घायल हो जाने के बाद भी इतनी शक्ति रही होगी कि इस प्रकार उड़कर कहीं चले जाते? अर्थात् नंद में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसके रूप-जाल और प्रेम के बंधन से निकलकर निवृति या निर्वाण के मार्ग पर अग्रसर हो सके। राजहंस जाने कितनों दिनों से इसी कमलताल में रह रहे थे, यही रहने की उनकी आदत और अभ्यास बन चुका था। यहाँ के आकर्षण वातावरण में जो सौंदर्य और सरसता थी, उसे इतनी सरलता और जल्दी में छोड़कर राजहंसों का उड़ जाना वास्तव में एक असम्भावित सी बात प्रतीत होती है। अर्थात राजकुमार नंद इतने दिनों से सुंदरी के साथ इस आकर्षक विलास-वासनामय सुंदर वातावरण में निवास कर रहे हैं । इस प्रवृति मार्ग में वह सभी कुछ है कि जिन वस्तुओं को सामान्यत: एक व्यक्ति चाहता है। फिर भी एकाएक उस सब को त्याग कर निवृति मार्ग पर चल निकलना,

बड़ी ही कठिन तथा असम्भावित सी बात है।

विशेष :- जीवन के प्रति, अपने वातावरण के प्रति स्वाभाविक मोह का दार्शनिक विवेचन अत्यंत सजीव ढंग से हुआ है। राजहंसों का घायल होकर उड़ जाना प्रतीकात्मक चित्रण है। यह प्रतीकात्मक चित्रण नाटककार ने भावी का आभास देने के लिए किया है। कथानक के भावी विकास और मोड़ की दृष्टि से प्रस्तुत संदर्भ अत्यधिक नाटकीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

8. "हाँ, सुंदरी को तो तुमने देखा नहीं है। भिक्षु हो इसलिए देखोगे भी नहीं। सम्भवतः तुम्हारी दृष्टि में उसका यहाँ होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रान्ति है। परन्तु उस तरह मै। एक भ्रान्ति नहीं हूँ ? तुम एक भ्रान्ति नहीं हो ? तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य एक भ्रान्ति नहीं है ?"

प्रसंग :- गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए अपने छोटे भाई नंद के द्वार पर आते हैं और बिना भिक्षा पाए लौट जाते हैं । पता चलने पर नंद का मन पश्चाताप और अपराध के भाव से भर जाता है। अतः वह क्षमा-याचना करने के लिए उनके पास नदी-तट पर जाता है। वहाँ उनके प्रभाव में आकर, अपना सिर मुण्डवाकर वह भी बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसके बाद गौतम बुद्ध के प्रमुख शिष्य भिक्षु आनंद के साथ वह अन्तिम विदाई के लिए अपने राजभवन में लौटता है। नंद भिक्षु आनंद को अपना भवन आदि दिखाता है तो आनंद सभी कुछ सुंदर कह'कर उसकी प्रशंसा करता है। तब बुद्ध मत के अनुसार नारी-दर्शनों की वर्जना और शून्यवादी जीवन दर्शन के प्रति अव्यक्त रूप से अतास्था प्रगट करते हुए अपने मनोद्वंद्व के बढ़ते आवेग में राजकुमार नंद कहता है:

व्याख्या :- तुम कहते हो कि यहाँ का सबकुछ अति सुंदर है। पर इस समग्र रूप से सुंदर वातावरण में रहने वाली, इस सबकी स्वामिनी और अप्रतिम सुंदरी मेरी पत्नी सुंदरी को तो अभी तक तुमने देखा नहीं। वह मेरे इस सुंदर जीवन ताल की राजहंसनी है। पर तुम मेरी पत्नी सुंदरी को क्यों देखने लगे। बौद्ध भिक्षु होने के नाते नारी के दर्शन करना तुम्हारे लिए वर्जित है। अतः उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। फिर तुम्हारा बौद्ध दर्शन जिस शून्यवाद का अर्थात हृदय जगत का सभी कुछ मिथ्या है भ्रान्ति है, आदि अंत शून्य है, पर विश्वास करता है उसकी दृष्टियों से तो सुंदरी का यहां होना भी एक अयथार्थ है उसे यथार्थ स्वीकार करना एक भ्रम है, अपने आप को धोखे और भ्रम से अधिक कुछ नहीं है। तनिक रूक कर अपने मनः द्वंद्वो में पिसता नंद फिर कहता है यदि तुम्हारे शून्यवादी सिद्धांतों को मान लिया जाए तब तो मैं मेरा यहाँ वर्तमान व्यक्तित्व और अस्तित्व एक भ्रम से अधिक कुछ भी नहीं। इसी संदर्भ में तुमने अभी जो यहाँ की वस्तुओं और वातावरण के सुंदर होने की बात कही है मुझे निवृति और निर्वाण का उपदेश मिला है, उसका एक-एक वाक्य शब्द और वर्ण सभी कुछ एक मिथ्यात्व ही तो है। भाव यह है कि यदि शून्यवादी सिद्धांतों को अपना लिया जाए तो फिर किसी भी वस्तु जगत का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जब किसी वस्तु जगत का अस्तित्व ही नहीं, तो फिर अनेक प्रकार के दर्शन व्यर्थ है। परिव्राज्या और निर्वाण की कामना या चेष्टा भी व्यर्थ है। अतः दर्शनों के प्रवारने और लाने का कुछ भी अर्थ और महत्त्व नहीं।

विशेषः- नाटककार ने नंद के मुख से बुद्व मत के नारी दर्शन स्पर्शन वर्जना और शून्यवादी सिद्वांत का सजीव प्रतिपादन किया है। अपनी या जागतिक द्वंद्वग्रस्त चेतना में इस प्रकार के दर्शन की अव्यावहारिकता भी स्पष्ट की है। जब संसार का अस्तित्व ही नहीं है, व्यक्ति का उसके विचारों का अस्तित्व ही नहीं है, तो फिर निर्वाण आदि की परिकल्पनाएँ भी व्यर्थ है। जीवन जीने की एक प्रबल ऐषणा और दृश्य सौन्दर्य के प्रति प्रबल प्रवृति का भाव भी स्पष्ट है।

9. "और नहीं भिक्षु:- यह बातों खेल का हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा, स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्य सत्य और अमृत- मैं जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कह देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है ।"

प्रसंग :- राजपुत्र नंद और गौतम बुद्ध के पास गया तो था भिक्षा न दे पाने के लिये क्षमा याचना करने पर वहाँ उनकी बातों और व्यवहारों के प्रभाव में आकर भावावेश में भिक्षुओं के समान अपने केश कटवा बैठा। अब जब कि वह भिक्षु आनंद के साथ अपने घर वापिस लौटता है तो अपने मानसिक द्वंद्व के क्षणों में अपने किए पर पश्चाताप प्रगट करते हुए वह कहता है कि तब वह बड़े भाई के समान के लिए विमूढ़-सा होकर रह गया था, अत: उस सबका बलपूर्वक विरोध नहीं कर सका। परंतु उसके बाद में मैं अपना उत्तर दे आया कि उनका मार्ग मेरा मार्ग नहीं है। पर भिक्षु आनंद कहता है कि वास्तव में अभी तक वह अपनी द्वंद्वग्रस्त चेतना में अपने आपसे ही लड़ रहा है। उसे शान्ति मन को एक दिशा में मुक्ति और निर्वाण की दिशा में एकाग्र करने से ही प्राप्त हो सकेगी। मिश्र आनंद में इस तर्क के उत्तर में अपने मार्ग को बुद्ध के मार्ग से अलग बताते हुए नंद कह रहा है:

व्याख्या:- बस भिक्षु! इस प्रकार के बाते और तर्क रहने दो! मुझ पर इन बातों का और अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता! अब तक तर्क के नाम पर तुम लोग बातों का खेल बहुत खेल चुके हो, अर्थात् मेरे मन को अपने वर्तमान से डिगा कर अपने वांग्जाल में उलझाने का बहुत प्रयत्न कर चुके हो, पर अब और नहीं । यह सारा खेल यह सारा नाटक यहीं समाप्त हो जाना चाहिए। तुम जो स्वर्ग -नरक का भय दिखा रहे हो वैराग्य विवेक और निवृति के साथ निर्वाण की चर्चा कर रहे हो, मुझे शील और संयम का उपदेश देकर मेरे वर्तमान को मुझसे छीनने की चेष्टा में निरत हो, मेरे सामने जिन बातों की चर्चा आर्य सत्य और अमृत अर्थात मुक्ति और निर्वाण का सुख बताकर कह रहे हो वे सब अपने आप को धोखा देना मात्र है। ऐसी चर्चाएँ करके तुम मुझे जिस प्रव्रज्या (संन्यास) के मार्ग पर ले जाना चाहते हो, उनका अब मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। मैं तथागत- अर्थात् गौतम बुद्ध के सामने भी यह बात कह आया हूँ और अब तुम्हारे सामने भी उसी बात को दुहरा रहा हूँ कि जिस दिशा में गौतम बुद्ध और तुम चल रहे हो मुझे भी चलाने के चक्कर में पड़े हो वह मेरी नहीं है। उस दिशा में कभी भी नहीं चल सकता। अर्थात् मेरा मार्ग प्रवृत्तियों का है तुम्हारा निवृतियों का, अत: हमारी दिशाएँ सर्वथा भिन्न हैं । तुम्हारे उपदेशों का मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि मेरे लिए वे सब छलावा आत्म प्रवचन और धोखा है।

विशेष:- प्रस्तुत प्रसंग में नाटककार ने राजकुमार नंद के मन के चरम द्वंद्व को निश्यच-अनिश्चय की स्थिति को, जो सामने आ पड़ा है, उससे पलायन की वृति को सशक्त ढंग से, सशक्त शब्दों में रूपायित किया है। शब्द योजना में पारिभाषिक शब्दावली विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाटकीयता का चरम रूप भी यहाँ दर्शनीय है। जिज्ञासा की चरम स्थिति भी बनती है। कथानक योजना की गति बड़ी द्रुत है।

10. "इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चूक जाता है। फिर हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी है। सुख सुख नहीं है, कोई पर फिसलते हुए पाँव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बून्द की एक अकुलाहट ... परंतु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? ... आकाश में कहीं लटके हुए नीले-काले बिन्दु ... कोरे सिद्वांतों के ... वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं ?"

प्रसंग :- द्वार पर भिक्षा न देने के प्रसंग में राजकुमार नंद क्षमा-याचना के लिए गौतम बुद्व के पास जाता है। एक तो भावावेश और दूसरे अपने बड़े भाई के सम्मान की दृष्टि से वह चुपचाप अपने केश कटवा लेता है। पर उसके मन में संसार का, आने सुंदर और आकर्षक संसारी व्यक्तित्व का आकर्षण निरंतर बना रहता है। दूसरी ओर संस्कार जाल रूप से, मृग के गत शिकार की घटना को लेकर नंद के मन में अहिंसा और जागतिक नश्वरता का भाव भी जागृत हो जाता है। इन दो परस्पर विरोधी स्थितियों के फलस्वरूप उसका मन प्रवृति निवृति के अजीब से द्वंद्व में उलझकर रह जाता है। उन्हीं अन्तर्द्वन्द्व के चरम विकास के क्षणों में वह गौतम बुद्व के प्रमुख शिष्य भिक्षु आनंद से कहता है:

व्याख्या:- मेरे मन में विश्वासों और मान्यताओं का द्वंद्व चल रहा था। मैने जो चुपचाप अपना केश कर्तन सहन कर लिया, वह भी मेरे मन का ही एक विद्रोह था। पर वास्तव में केश कर्तन के समय जो विश्वास मुझ पर लादा गया, वह मेरा नहीं किसी और का- अर्थात् तुम्हारा और गौतम बुद्व का था। मैं तो निश्चय-अनिश्चय के द्वंद्व में मात्र उलझकर, विवश होकर रह गया। सार तत्त्व के रूप में मेरी समझ में यह बात अवश्य आने लगी है कि मनुष्य जीता रहता है। जीना भी एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में एक एक साँस लेने के बहाने से जीवन समाप्ति की ओर खिसकता जाता है। व्यक्ति की चेतना में जो नये विचार या द्वंद्व उभरते हैं, वे एक क्षण की देन होता है। लेकिन काल अनन्त है और उसकी अनन्ता के सागर में नये विचार और उस विचार को जन्म देनेवाले क्षण का कुछ भी महत्त्व नहीं होता। जिस प्रकार क्षण अस्थायी है उसी प्रकार उस क्षण में उभरनेवाला विचार भी अस्थायी है, स्थायी कुछ भी नहीं। जीवन विषमताओं की काई पर निरंतर फिसलता हुआ अंत की ओर जा रहा है। उसमें सुख का स्पन्दन भी क्षणिक है। सुख का स्थायित्व और अस्तित्व उतनी ही देर का है कि जितनी देर तक रेत में पड़ी एक बेचारी बूँद उसमें समा कर समाप्त नहीं हो जाती अर्थात् जीवन का क्षण मृत्यु के अन्तराल में समाकर समाप्त नहीं जाता उस क्षण में जो व्याकुलता अनुभव होती है, उसी में जीवन का सारा अर्थ बोध समाया हुआ है। वहीं जीवन जीने का पुरस्कार है। जीवन के इस सूने वातावरण में जो प्रवृत्ति-निवृत्ति के अनेक प्रकार के सिद्धांत बनाए जाते हैं, वे भी मात्र बिन्दु और उनका भ्रम है। उन्हें भी हम स्थायी और चिर सत्य नहीं मान सकते। भाव यह है कि जीवन में कुछ भी स्थायी नहीं है अत: सत्य का चरम रूप भी कोई नहीं। सत्य वही है कि जिसे हम जी और भोग लेते हैं । ऐसी स्थितियों में किसी भी प्रकार के उच्च सिद्वांतों की चर्चा व्यर्थ है।

विशेष :- नाटककार ने प्रस्तुत प्रसंग में जीवन और सिद्धांतों का बड़ा ही सार-गर्भित व्यावहारिक दर्शन के अनुरूप चित्रण किया है। नंद के द्वंद्व का चरम रूप तो यहाँ दर्शित होता ही है, लगता है कि अब उसके द्वंद्व का ज्वार उतरने ही वाला है।

45.3 अभ्यास के प्रश्न

1. निम्नलिखित व्याख्यात्मक पंक्तियों का सप्रसंग व्याख्या कीजिए।

(क) देखो न एक के बाद एक दीपक जलता जाता है न कुछ उलझता है, न कुछ विखरता है।

(ख) बात बहुत साधारण सी है। अलका ! नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्व बना देता है।

(ग) और नहीं भिक्षु :- यह बातों खेल का हमारे बीच और नहीं खेला जायेगा, ... कदापि नहीं है।